एकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने पुत्र शुकदेवको वैराग्य और धर्मपूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना

युधिष्ठिर उवाच

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।। १ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! पूर्वकालमें व्यासपुत्र शुकदेवको किस प्रकार वैराग्य प्राप्त हुआ था? मैं यह सुनना चाहता हूँ। इस विषयमें मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ।। १ ।।

अव्यक्तव्यक्ततत्त्वानां निश्चयं बुद्धिनिश्चयम् ।
वक्तुमर्हसि कौरव्य देवस्याजस्य या कृतिः ।। २ ।।

कुरुनन्दन! इसके सिवा आप मुझे व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वोंका बुद्धिद्वारा निश्चित किया हुआ स्वरूप बतलाइये तथा अजन्मा भगवान् नारायणका जो चरित्र है, उसे भी सुनानेकी कृपा करें ।। २ ।।

भीष्म उवाच

प्राकृतेन सुवृत्तेन चरन्तमकुतोभयम् ।
अध्याप्य कृत्स्नं स्वाध्यायमन्वशाद् वै पिता सुतम् ।। ३ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! पुत्र शुकदेवको साधारण लोगोंकी भाँति आचरण करते और सर्वथा निर्भय विचरते देख पिता श्रीव्यासजीने उन्हें सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कराया और फिर यह उपदेश दिया ।। ३ ।।

व्यास उवाच

धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ।। ४ ।।

व्यासजीने कहा—बेटा! तुम सदा धर्मका सेवन करते रहो और जितेन्द्रिय होकर कड़ीसे कड़ी सर्दी, गर्मी, भूख-प्यासको सहन करते हुए प्राणवायुपर विजय प्राप्त करो ।। ४ ।।

सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः ।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत् परिपालय ।। ५ ।।

सत्य, सरलता, अक्रोध, दोषदर्शनका अभाव, इन्द्रिय-संयम, तप, अहिंसा और दया आदि धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करो ।। ५ ।।

सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
देवतातिथिशेषेण मात्रां प्राणस्य संलिह ।। ६ ।।

सत्यपर डटे रहो तथा सब प्रकारकी वक्रता छोड़कर धर्ममें अनुराग करो। देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करके जो अन्न बचे, उसीका प्राणरक्षाके लिये आस्वादन करो ।। ६ ।।

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ।। ७ ।।

बेटा! यह शरीर जलके फेनकी तरह क्षणभंगुर है। इसमें जीव पक्षीकी तरह बसा हुआ है और यह प्रियजनोंका सहवास भी सदा रहनेवाला नहीं है। फिर भी तुम क्यों सोये पड़े हो? ।। ७ ।।

अप्रमत्तेषु जाग्रत्सु नित्ययुक्तेषु शत्रुषु ।
अन्तरं लिप्समानेषु बालस्त्वं नावबुध्यसे ।। ८ ।।

तुम्हारे शत्रु सर्वदा सावधान, जो हुए, सर्वथा उद्यत और तुम्हारे छिद्रोंको देखनेमें लगे हुए हैं; परंतु तुम अभी बालक हो, इसलिये समझ नहीं रहे हो ।। ८ ।।

अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथाऽऽयुषि ।
जीविते लिख्यमाने च किमुत्थाय न धावसि ।। ९ ।।

तुम्हारी आयुके दिन गिने जा रहे हैं। आयु क्षीण होती जा रही है और जीवन मानो कहीं लिखा जा रहा है (समाप्त हो रहा है)। फिर तुम उठकर भागते क्यों नहीं हो? (शीघ्रतापूर्वक कर्तव्यपालनमें लग क्यों नहीं जाते हो?) ।। ९ ।।

ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ।
पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ता भृशनास्तिकाः ।। १० ।।

अत्यन्त नास्तिक मनुष्य केवल इस लोकके स्वार्थको चाहते हुए शरीरमें मांस और रक्तको बढ़ाने-वाली चेष्टा ही करते रहते हैं। पारलौकिक कार्योंकी ओरसे तो वे सदा सोये ही रहते हैं ।। १० ।।

धर्माय येऽभ्यसूयन्ति बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाताऽपि पीड्यते ।। ११ ।।

जो बुद्धिके व्यामोहमें डूबे हुए मनुष्य धर्मसे द्वेष करते हैं, वे सदा कुमार्गसे ही चलते हैं। उनकी तो बात ही क्या है, उनके अनुयायियोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है ।। ११ ।।

ये तु तुष्टाः श्रुतिपरा महात्मानो महाबलाः ।
धर्म्यं पन्थानमारूढास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ।। १२ ।।

इसलिये जो महान् धर्मबलसे सम्पन्न महात्मा पुरुष संतुष्ट और श्रुतिपरायण होकर सर्वदा धर्मपथपर ही आरूढ़ रहते हैं, तुम उन्हींकी सेवामें रहो और उन्हींसे अपना कर्तव्य पूछो ।। १२ ।।

उपधार्य मतं तेषां बुधानां धर्मदर्शिनाम् ।
नियच्छ परया बुद्ध्या चित्तमुत्पथगामि वै ।। १३ ।।

उन धर्मदर्शी विद्वानोंका मत जानकर तुम अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके द्वारा अपने कुपथगामी मनको काबूमें करो ।। १३ ।।

आद्यकालिकया बुद्ध्या दूरे श्व इति निर्भयाः ।
सर्वभक्ष्या न पश्यन्ति कर्मभूमिमचेतसः ।। १४ ।।

जिसकी केवल वर्तमान सुखपर ही दृष्टि रहती है, उस बुद्धिके द्वारा भावी परिणामको बहुत दूर जानकर जो निर्भय रहते और सब प्रकारके अभक्ष्य पदार्थोंको खाते रहते हैं, वे बुद्धिहीन मनुष्य इस कर्मभूमिके महत्त्वको नहीं देख पाते हैं ।। १४ ।।

धर्मं निःश्रेणिमास्थाय किंचित् किंचित् समारुह ।
कोषकारवदात्मानं वेष्टयन्नानुबुध्यसे ।। १५ ।।

तुम धर्मरूपी सीढ़ीको पाकर धीरे-धीरे उसपर चढ़ते जाओ। अभी तो तुम रेशमके कीड़ेकी तरह अपने-आपको वासनाओंके जालसे ही लपेटते जा रहे हो, तुम्हें चेत नहीं हो रहा है ।। १५ ।।

नास्तिकं भिन्नमर्यादं कूलपातमिव स्थितम् ।
वामतः कुरु विस्रब्धो नरं वेणुमिवोद्धृतम् ।। १६ ।।

जो नास्तिक हो, धर्मकी मर्यादा भंग कर रहा हो और किनारेको तोड़-फोड़कर गिरा देनेवाले नदीके महान् जल-प्रवाहकी भाँति स्थित हो, ऐसे मनुष्यको उखाड़े हुए बाँसकी तरह बिना किसी हिचकके त्याग दो ।। १६ ।।

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ।। १७ ।।

काम, क्रोध, मृत्यु और जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी जल भरा हुआ है, ऐसी विषयासक्तिरूपी नदीको तुम सात्त्विकी धृतिरूप नौकाका आश्रय ले पार कर लो और इस प्रकार जन्म-मृत्युरूपी दुर्गम संकटसे पार हो जाओ ।। १७ ।।

मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीडिते ।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन संतर ।। १८ ।।

सारा संसार मृत्युके थपेड़े खाता हुआ वृद्धावस्थासे पीड़ित हो रहा है। ये रातें प्राणियोंकी आयुका अपहरण करके अपनेको सफल बनाती हुई बीत रही हैं। तुम धर्मरूपी नौकापर चढ़कर भवसागरसे पार हो जाओ ।।

तिष्ठन्तं च शयानं च मृत्युरन्वेषते यदा ।
निर्वृत्तिं लभते कस्मादकस्मान्मृत्युनाशितः ।। १९ ।।

मनुष्य खड़ा हो या सो रहा हो, मृत्यु निरन्तर उसे खोजती फिरती है। जब इस प्रकार तुम अकस्मात् मृत्युके ग्रास बन जानेवाले हो, तब इस तरह निश्चिन्त एवं शान्त कैसे बैठे हो? ।। १९ ।।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ।। २० ।।

मनुष्य भोगसामग्रियोंके संचयमें लगा ही रहता है और उनसे तृप्त भी नहीं होने पाता है कि भेड़के बच्चेको उठा ले जानेवाली बाघिनकी भाँति मौत उसे अपनी दाढ़में दबाकर चल देती है ।। २० ।।

क्रमशः संचितशिखो धर्मबुद्धिमयो महान् ।
अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम् ।। २१ ।।

यदि तुम्हें इस संसाररूपी अन्धकारमें प्रवेश करना है तो हाथमें उस धर्म-बुद्धिमय महान् दीपकको यत्नपूर्वक धारण कर लो, जिसकी शिखा क्रमशः प्रज्वलित हो रही हो ।। २१ ।।

सम्पतन् देहजालानि कदाचिदिह मानुषे ।
ब्राह्मण्यं लभते जन्तुस्तत् पुत्र परिपालय ।। २२ ।।

बेटा! जीव अनेक प्रकारके शरीरोंमें जन्मता-मरता हुआ कभी इस मानव-योनिमें आकर ब्राह्मणका शरीर पाता है, अतः तुम ब्राह्मणोचित कर्तव्यका पालन करो ।।

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते ।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ।। २३ ।।

ब्राह्मणका यह शरीर भोग भोगनेके लिये नहीं पैदा होता है। यह तो यहाँ क्लेश उठाकर तपस्या करने और मृत्युके पश्चात् अनुपम सुख भोगनेके लिये रचा गया है ।। २३ ।।

ब्राह्मण्यं बहुभिरवाप्यते तपोभि-
स्तल्लब्ध्वा न रतिपरेण हेलितव्यम् ।
स्वाध्याये तपसि दमे च नित्ययुक्तः
क्षेमार्थी कुशलपरः सदा यतस्व ।। २४ ।।

बहुत समयतक बड़ी भारी तपस्या करनेसे ब्राह्मणका शरीर मिलता है। उसे पाकर विषयानुरागमें फँसकर बरबाद नहीं करना चाहिये। अतः यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कुशलप्रद कर्ममें संलग्न हो सदा स्वाध्याय, तपस्या और इन्द्रियसंयममें पूर्णतः तत्पर रहनेका प्रयत्न करो ।। २४ ।।

अव्यक्तप्रकृतिरयं कलाशरीरः
सूक्ष्मात्मा क्षणत्रुटिशो निमेषरोमा ।
ऋत्वास्यः समबलशुक्लकृष्णनेत्रो
मासाङ्गो द्रवति वयोहयो नराणाम् ।। २५ ।।
तं दृष्ट्वा प्रसूतमजस्रमुग्रवेगं
गच्छन्तं सततमिहाव्यपेक्षमाणम् ।
चक्षुस्ते यदि न परप्रणेतृनेयं
धर्मे ते भवतु मनः परं निशाम्य ।। २६ ।।

मनुष्योंका आयुरूप अश्व बड़े वेगसे दौड़ा जा रहा है। इसका स्वभाव अव्यक्त है। कला-काष्ठा आदि इसके शरीर हैं। इसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। क्षण, त्रुटि (चुटकी) और निमेष आदि इसके रोम हैं। ऋतुएँ मुख हैं। समान बलवाले शुक्ल और कृष्णपक्ष नेत्र हैं तथा महीने इसके विभिन्न अंग हैं। वह भयंकर वेगशाली अश्व यहाँकी किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखकर निरन्तर अविराम गतिसे वेगपूर्वक भागा जा रहा है। उसे देखकर यदि तुम्हारी ज्ञानदृष्टि दूसरेके द्वारा चलानेपर चलनेवाली नहीं है; तो तुम्हारा मन धर्ममें ही लगना चाहिये। तुम दूसरे धर्मात्माओंपर भी दृष्टि डालो ।। २५-२६ ।।

ये चात्र प्रचलितधर्मकामवृत्ताः
क्रोशन्तः सततमनिष्टसम्प्रयोगाः ।
क्लिश्यन्तः परिगतवेदनाशरीरा
बह्वीभिः सुभृशमधर्मकारणाभिः ।। २७ ।।

जो लोग यहाँ धर्मसे विचलित हो स्वेच्छाचारमें लगे हुए हैं, दूसरोंको बुरा-भला कहते हुए सदा अनिष्टकारी अशुभ कर्मोंमें ही लगे हुए हैं, वे मरनेके बाद यातनादेह पाकर अपने अनेक पापकर्मोंके कारण अत्यन्त क्लेश भोगते हैं ।। २७ ।।

राजा सदा धर्मपरः शुभाशुभस्य गोप्ता
समीक्ष्य सुकृतिनां दधाति लोकान् ।
बहुविधमपि चरति प्रविशति
सुखमनुपगतं निरवद्यम् ।। २८ ।।

जो राजा सर्वदा धर्मपरायण रहकर उत्तम और अधम प्रजाका यथायोग्य विचारपूर्वक पालन करता है, वह पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होता है। यदि वह स्वयं भी नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका आचरण करता है तो उसके फलस्वरूप उसे अप्राप्त एवं निर्दोष सुख प्राप्त होता है ।। २८ ।।

श्वानो भीषणकाया अयोमुखानि वयांसि

बलगृध्रकुलपक्षिणां च संघाः ।
नरकदने रुधिरपा गुरुवचन-
नुदमुपरतं विशसन्ति ।। २९ ।।

परंतु जो गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं, उनके मरणके पश्चात् नरकमें स्थित भयानक शरीरवाले कुत्ते, लौहमुख पक्षी, कौए-गीध आदि पक्षियोंके समुदाय तथा रक्त पीनेवाले कीट उनके यातना-शरीरपर आक्रमण करके उसे नोचते और काटते हैं ।। २९ ।।

मर्यादा नियताः स्वयम्भुवा य इहेमाः
प्रभिनत्ति दशगुणा मनोऽनुगत्वात् ।
निवसति भृशमसुखं पितृविषय-
विपिनमवगाह्य स पापः ।। ३० ।।

जो मनुष्य मनचाही करनेके कारण स्वायम्भुवमनुकी बाँधी हुई धर्मकी दस* प्रकारकी मर्यादाओंको तोड़ता है, वह पापात्मा पितृलोकके असिपत्रवनमें जाकर वहाँ अत्यन्त दुःख भोगता रहता है ।। ३० ।।

यो लुब्धः सुभृशं प्रियानृतश्च मनुष्यः
सततनिकृतिवञ्चनाभिरतिः स्यात् ।
उपनिधिभिरसुखकृत्स परमनिरयगो
भृशमसुखमनुभवति दुष्कृतकर्मा ।। ३१ ।।

जो पुरुष अत्यन्त लोभी, असत्यसे प्रेम करनेवाला और सर्वदा कपटभरी बातें बनानेवाला और ठगाईमें रत है तथा जो तरह-तरहके साधनोंसे दूसरोंको दुःख देता है, वह पापात्मा घोर नरकमें पड़कर अत्यन्त दुःख भोगता है ।। ३१ ।।

उष्णां वैतरणीं महानदी-
मवगाढोऽसिपत्रवनभिन्नगात्रः ।
परशुवनशयो निपतितो
वसति च महानिरये भृशार्तः ।। ३२ ।।

उसे अत्यन्त उष्ण महानदी वैतरणीमें गोता लगाना पड़ता है। असिपत्रवनमें उसका अंग-अंग छिन्न-भिन्न हो जाता है और परशुवनमें उसे शयन करना पड़ता है। इस प्रकार महानरकमें पड़कर वह अत्यन्त आतुर हो उठता है और विवश होकर उसीमें निवास करता है ।। ३२ ।।

महापदानि कत्थसे न चाप्यवेक्षसे परम् ।
चिरस्य मृत्युकारिकामनागतां न बुध्यसे ।। ३३ ।।

तुम ब्रह्मलोक आदि बड़े-बड़े स्थानोंकी बातें तो बनाते हो, परंतु परमपदपर तुम्हारी दृष्टि नहीं है। भविष्यमें जो मृत्युकी परिचारिका वृद्धावस्था आनेवाली है, उसका तुम्हें पता ही नहीं है ।। ३३ ।।

प्रयायतां किमास्यते समुत्थितं महद् भयम् ।
अतिप्रमाथि दारुणं सुखस्य संविधीयताम् ।। ३४ ।।

वत्स! चुपचाप क्यों बैठे हो? जल्दीसे आगे बढ़ो। तुम्हारे ऊपर हृदयको अत्यन्त मथ डालनेवाला, भयंकर एवं महान् भय उठ खड़ा हुआ है; अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करो ।। ३४ ।।

पुरा मृतः प्रणीयते यमस्य राजशासनात् ।
त्वमन्तकाय दारुणैः प्रयत्नमार्जवे कुरु ।। ३५ ।।

तुम्हें मरनेपर यमराजकी आज्ञासे भयानक यमदूतोंद्वारा उनके सामने उपस्थित किया जाय, इसके पहले ही सरलतारूप धर्मके सम्पादनके लिये प्रयत्न करो ।। ३५ ।।

पुरा समूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यदुःखवित् ।
तवेह जीवितं यमो न चास्ति तस्य वारकः ।। ३६ ।।

यमराज सबके स्वामी हैं। वे किसीका दुःख-दर्द नहीं समझते हैं। वे मूल और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे प्राण हर लेंगे। उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं है। वह समय आनेके पहले ही तुम अपनी रक्षाके लिये प्रबन्ध कर लो ।। ३६ ।।

पुराऽभिवाति मारुतो यमस्य यः पुरःसरः ।
पुरैक एव नीयसे कुरुष्व साम्परायिकम् ।। ३७ ।।

जिस समय यमराजके आगे-आगे चलनेवाला प्रचण्ड कालरूपी पवन चल पड़ेगा, उस समय वह अकेले तुम्हींको वहाँ ले जायगा; अतः तुम पहलेसे ही परलोकमें सुख देनेवाले धर्मका आचरण करो ।। ३७ ।।

पुरा स हि क्व एव ते प्रवाति मारुतोऽन्तकः ।
पुरा च विभ्रमन्ति ते दिशो महाभयागमे ।। ३८ ।।

पूर्वजन्ममें तुम्हारे सामने जो प्राणनाशक पवन चल रहा था, आज वह कहाँ है? अब भी जब मृत्युरूप महान् भय उपस्थित होगा, तब तुम्हें सम्पूर्ण दिशाएँ घूमती दिखायी देंगी; अतः पहलेसे ही सावधान हो जाओ ।। ३८ ।।

श्रुतिश्च संनिरुध्यते पुरा तवेह पुत्रक ।
समाकुलस्य गच्छतः समाधिमुत्तमं कुरु ।। ३९ ।।

बेटा! जब तुम इस शरीरको छोड़कर चलने लगोगे, उस समय व्याकुलताके कारण तुम्हारी श्रवणशक्ति भी नष्ट हो जायगी। इसलिये तुम सुदृढ़ समाधि प्राप्त कर लो ।। ३९ ।।

शुभाशुभे पुरा कृते प्रमादकर्मविप्लुते ।
स्मरन् पुरा न तप्यसे निधत्स्व केवलं निधिम् ।। ४० ।।

तुम पहले असावधानतावश जो अनुचितरूपसे शुभाशुभ कर्म कर चुके हो, उसे स्मरण करके उनके फलभोगसे संतप्त होनेके पहले ही अपने लिये केवल ज्ञानका भण्डार भर लो ।। ४० ।।

पुरा जरा कलेवरं विजर्जरीकरोति ते ।
बलाङ्गरूपहारिणी निधत्स्व केवलं निधिम् ।। ४१ ।।

देखो, बल, अंग और रूपका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था एक दिन तुम्हारे शरीरको जर्जर कर डालेगी, उसके पहले ही तुम अपने लिये ज्ञानका भण्डार भर लो ।। ४१ ।।

पुरा शरीरमन्तको भिनत्ति रोगसारथिः ।
प्रसह्य जीवितक्षये तपो महत् समाचर ।। ४२ ।।

रोग जिसका सारथि है, वह काल हठात् तुम्हारे शरीरको विदीर्ण कर डालेगा, इसलिये इस जीवनका नाश होनेसे पूर्व ही तुम महान् तपका अनुष्ठान कर लो ।। ४२ ।।

पुरा वृका भयंकरा मनुष्यदेहगोचराः ।
अभिद्रवन्ति सर्वतो यतस्व पुण्यशीलने ।। ४३ ।।

इस मानव-शरीरमें रहनेवाले काम-क्रोध आदि भयंकर व्याघ्र तुमपर चारों ओरसे आक्रमण कर रहे हैं, इसलिये पहलेसे ही तुम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ।।

पुरान्धकारमेककोऽनुपश्यसि त्वरस्व वै ।
पुरा हिरण्मयान् नगान् निरीक्षसेऽद्रिमूर्धनि ।। ४४ ।।

मरनेके समय तुम्हें पहले घोर अन्धकार दिखलायी देगा। फिर पर्वतके शिखरपर सुनहरे वृक्ष दृष्टिगोचर होंगे। वह समय आनेसे पहले ही अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र प्रयत्न करो ।। ४४ ।।

पुरा कुसङ्गतानि ते सुहृन्मुखाश्च शत्रवः ।
विचालयन्ति दर्शनाद् घटस्व पुत्र यत्परम् ।। ४५ ।।

इस संसारमें दुष्ट पुरुषोंके संग तथा ऊपरसे मित्रभाव एवं भीतरसे शत्रुता रखनेवाले लोग दर्शनमात्रसे तुम्हें कर्तव्यपथसे विचलित कर देंगे, इसलिये तुम पहलेसे ही परम उत्तम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ।।

धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः ।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद् धनम् ।। ४६ ।।

जिस धनको न तो राजासे भय है और न चोरसे ही तथा जो मर जानेपर भी जीवका साथ नहीं छोड़ता है, उस धर्मरूपी धनका उपार्जन करो ।। ४६ ।।

न तत्र संवियुज्यते स्वकर्मभिः परस्परम् ।
यदेव यस्य यौतकं तदेव तत्र सोऽश्नुते ।। ४७ ।।

अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए उस धनको परलोकमें परस्पर बाँटना नहीं पड़ता है। वहाँ तो जो जिसकी निजी सम्पत्ति है, उसे ही वह भोगता है ।। ४७ ।।

परत्र येन जीव्यते तदेव पुत्र दीयताम् ।
धनं यदक्षरं ध्रुवं समर्जयस्व तत् स्वयम् ।। ४८ ।।

बेटा! जिससे परलोकमें भी जीवन-निर्वाह हो सकता है तथा जो अविनाशी और अटल धन है, उसीका दान करो एवं उसीका स्वयं भी उपार्जन करते रहो ।। ४८ ।।

न यावदेव पच्यते महाजनस्य यावकम् ।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर ।। ४९ ।।

बेटा! घरपर आये हुए किसी समादरणीय अतिथिके लिये जितनी देरमें यावक (घृत और खाँड़ मिलाकर तैयार किया हुआ जौके आटेका पूआ) पकाया जाता है, उसके पकनेसे भी पहले तुम्हारी मृत्यु हो सकती है; अतः तुम ज्ञानरूपी धनके उपार्जनके लिये शीघ्रता करो ।। ४९ ।।

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः ।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ।। ५० ।।

जीव जब अकेला ही परलोकके पथपर प्रस्थान करता है, उस संकटके समय माता, पुत्र, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्रशंसित प्रियजन भी उसके साथ नहीं जाते हैं ।। ५० ।।

यदेव कर्म केवलं पुरा कृतं शुभाशुभम् ।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ।। ५१ ।।

पुत्र! परलोकमें जाते समय अपना पहलेका किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म होता है, केवल वही साथ रहता है ।। ५१ ।।

हिरण्यरत्नसंचयाः शुभाशुभेन संचिताः ।
न तस्य देहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः ।। ५२ ।।

मनुष्यके द्वारा अच्छे-बुरे सभी तरहके कर्म करके जो सुवर्ण और रत्नोंके ढेर इकट्ठे किये जाते हैं, वे भी उस मनुष्यके शरीरका नाश होनेपर उसके किसी काम नहीं आते हैं (क्योंकि वे सब यहीं रह जाते हैं) ।। ५२ ।।

परत्रगामिकस्य ते कृताकृतस्य कर्मणः ।
न साक्षि आत्मना समो नृणामिहास्ति कश्चन ।। ५३ ।।

परलोककी यात्रा करते समय तुम्हारे किये और न किये हुए कर्मका साक्षी आत्माके समान मनुष्योंमें दूसरा कोई नहीं है ।। ५३ ।।

मनुष्यदेहशून्यकं भवत्यमुत्र गच्छतः ।
प्रविश्य बुद्धिचक्षुषा प्रदृश्यते हि सर्वशः ।। ५४ ।।

परलोकमें जाते समय इस मनुष्य-शरीरका अभाव हो जाता है अर्थात् यह यहीं छूट जाता है। जीव सूक्ष्म शरीरसे लोकान्तरमें प्रवेश करके अपने बुद्धिरूपी नेत्रसे वहाँ सब कुछ देखता है ।। ५४ ।।

इहाग्निसूर्यवायवः शरीरमाश्रितास्त्रयः ।
त एव तस्य साक्षिणो भवन्ति धर्मदर्शिनः ।। ५५ ।।

इस लोकमें अग्नि, वायु और सूर्य—ये तीन देवता जीवके शरीरका आश्रय करके रहते हैं। वे ही उसके धर्माचरणको देखनेवाले हैं और वे ही परलोकमें उसके साक्षी होते हैं ।। ५५ ।।

अहर्निशेषु सर्वतः स्पृशत्सु सर्वचारिषु ।
प्रकाशगूढवृत्तिषु स्वधर्ममेव पालय ।। ५६ ।।

दिन सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है और रात्रि उन्हें छिपा लेती है। ये सर्वत्र व्याप्त हैं और सभी वस्तुओंका स्पर्श करते हैं, अतः तुम इनकी वेलामें सर्वदा अपने धर्मका ही पालन करो ।। ५६ ।।

अनेकपारिपन्थिके विरूपरौद्रमक्षिके ।
स्वमेव कर्म रक्ष्यतां स्वकर्म तत्र गच्छति ।। ५७ ।।

परलोकके मार्गपर बहुत-से लुटेरे और बटमार रहते हैं तथा विकराल एवं भयंकर डाँस एवं मक्खियाँ होती हैं। वहाँ केवल अपना किया हुआ कर्म ही साथ जाता है; अतः तुम्हें अपने सत्कर्मकी ही रक्षा करनी चाहिये ।। ५७ ।।

न तत्र संविभज्यते स्वकर्मणा परस्परम् ।
तथा कृतं स्वकर्मजं तदेव भुज्यते फलम् ।। ५८ ।।

वहाँ अपने कर्मके अनुसार जो फल प्राप्त होता है, उसका किसीके साथ बँटवारा नहीं होता। वहाँ तो अपने किये हुए कर्मोंका ही फल भोगना होता है ।। ५८ ।।

यथाप्सरोगणाः फलं सुखं महर्षिभिः सह ।
तथाऽऽप्नुवन्ति कर्मजं विमानकामगामिनः ।। ५९ ।।

जैसे महर्षियोंके साथ झुंड-करी-झुंड अप्सराएँ होती हैं और वे सब पुण्यके फलस्वरूप सुख भोगते हैं, उसी प्रकार वहाँ पुण्यात्मा लोग विमानोंपर चढ़कर इच्छानुसार विचरते और पुण्यकर्मजनित सुख भोगते हैं ।। ५९ ।।

यथेह यत् कृतं शुभं विपाप्मभिः कृतात्मभिः ।

तदाप्नुवन्ति मानवास्तथा विशुद्धयोनयः ।। ६० ।।

निष्पाप पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा इस लोकमें जो शुभ कर्म सम्पादित होता है, जन्मान्तरमें विशुद्ध योनिमें जन्म लेकर उसका वैसा ही फल पाते हैं ।। ६० ।।

प्रजापतेः सलोकतां बृहस्पतेः शतक्रतोः ।
व्रजन्ति ते परां गतिं गृहस्थधर्मसेतुभिः ।। ६१ ।।

गृहस्थ-धर्मकी मर्यादाका पालन करनेवाले लोग प्रजापति, बृहस्पति अथवा इन्द्रके लोकमें उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ।। ६१ ।।

सहस्रशोऽप्यनेकशः प्रवक्तुमुत्सहाम ते ।
अबुद्धिमोहनं पुनः प्रभुर्निनाय पावकः ।। ६२ ।।

वत्स! मैं तुम्हारे सामने हजारों तथा उससे भी अधिक बार यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् तथा सबको पवित्र करनेवाले धर्मने, जिसकी बुद्धिपर मोह नहीं छा गया है, उस धर्मात्मा पुरुषको सदा ही पुण्यलोकमें पहुँचाया है ।। ६२ ।।

गता त्रिरष्टवर्षता ध्रुवोऽसि पञ्चविंशकः ।
कुरुष्व धर्मसंचयं वयो हि तेऽतिवर्तते ।। ६३ ।।

बेटा! तुम्हारी आयुके चौबीस वर्ष बीत गये। अब निश्चय ही तुम पचीस सालके हो गये; अतः धर्मका संचय करो। तुम्हारी सारी आयु यों ही बीती जा रही है ।। ६३ ।।

पुरा करोति सोऽन्तकः प्रमादगोमुखां चमूम् ।
यथागृहीतमुत्थितस्त्वरस्व धर्मपालने ।। ६४ ।।

देखो, तुम्हारा जो प्रमाद है, उसमें निवास करनेवाला काल तुम्हारी इन्द्रियोंके समुदायको मुखरहित (भोगशक्तिसे हीन) कर रहा है। इनके असमर्थ हो जानेके पहले ही तुम खड़े हो जाओ और अपने शरीरसे धर्मका पालन करनेके लिये जल्दी करो ।। ६४ ।।

यथा त्वमेव पृष्ठतस्त्वमग्रतो गमिष्यसि ।
तथा गतिं गमिष्यतः किमात्मना परेण वा ।। ६५ ।।

जिस समय तुम शरीर छोड़कर परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हीं पीछे रहोगे और तुम्हीं आगे चलोगे—तुम्हारे सिवा दूसरा कोई वहाँ आगे-पीछे चलनेवाला न होगा। ऐसी दशामें किसी अपने या पराये व्यक्तिसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है? ।। ६५ ।।

यदेकपातिनां सतां भवत्यमुत्र गच्छताम् ।
भयेषु साम्परायिकं निधत्स्व केवलं निधिम् ।। ६६ ।।

भय उपस्थित होनेपर अकेले यात्रा करनेवाले सत्पुरुषोंके लिये परलोकमें जो हितकर होता है, उस धर्म या ज्ञानकी निधिको शुद्धभावसे संचित करो ।। ६६ ।।

सकूलमूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यसङ्गवान् ।
न सन्ति यस्य वारकाः कुरुष्व धर्मसंनिधिम् ।। ६७ ।।

सर्वसमर्थ काल किसीके प्रति भी स्नेह नहीं करता। वह कूल और मूल अर्थात् आदि-अन्तसहित समस्त बन्धु-बान्धवोंको हर ले जाता है। उसको रोकनेवाले कोई नहीं हैं; इसलिये तुम धर्मका संचय करो ।। ६७ ।।

इदं निदर्शनं मया तवेह पुत्र साम्प्रतम् ।
स्वदर्शनानुमानतः प्रवर्णितं कुरुष्व तत् ।। ६८ ।।

बेटा! मैंने अपने शास्त्रज्ञान और अनुमानके द्वारा इस समय तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश किया है, तुम उसीके अनुसार आचरण करो ।। ६८ ।।

दधाति यः स्वकर्मणा ददाति यस्य कस्यचित् ।
अबुद्धिमोहजैर्गुणैः स एक एव युज्यते ।। ६९ ।।

जो पुरुष अपने सत्कर्मोंद्वारा धर्मको धारण करता है और जिस किसीको भी निष्कामभावसे दान देता है, वह अकेला ही मोहरहित बुद्धिसे प्राप्त होनेवाले गुणोंसे संयुक्त होता है ।। ६९ ।।

श्रुतं समस्तमश्नुते प्रकुर्वतः शुभाः क्रियाः ।
तदेतदर्थदर्शनं कृतज्ञमर्थसंहितम् ।। ७० ।।

जो समस्त शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करता और तदनुसार शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता है, उसीके लिये इस ज्ञानका उपदेश किया गया है; क्योंकि कृतज्ञ पुरुषको जो भी उपदेश दिया जाता है, वही सफल होता है ।। ७० ।।

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ।। ७१ ।।

मनुष्य जब गाँवमें रहकर वहींके पदार्थोंसे प्रेम करने लगता है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सी ही है। पुण्यात्मा लोग इसे काटकर उत्तम लोकोंमें चले जाते हैं, परंतु पापात्मा पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ।। ७१ ।।

किं ते धनेन किं बन्धुभिस्ते
किं ते पुत्रैः पुत्रक यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताश्च सर्वे ।। ७२ ।।

बेटा! जब तुम्हें एक दिन मरना ही है, तब धन, बन्धु और पुत्र आदिसे तुम्हें क्या लेना है; अतः तुम हृदयरूपी गुफामें छिपे हुए आत्मतत्त्वका अनुसंधान

करो। सोचो तो सही; आज तुम्हारे सारे पूर्वज—पितामह कहाँ चले गये? ।। ७२ ।।

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वाकृतम् ।। ७३ ।।

जो काम कल करना हो, उसे आज ही कर लेना चाहिये और जो दोपहर-बाद करना हो, उसे पहले ही पहरमें पूरा कर डालना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम पूरा हुआ है या नहीं ।। ७३ ।।

अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्ते ह बान्धवाः ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ।। ७४ ।।

मृत्युके बाद भाई-बन्धु, कुटुम्बी और सुहृद् श्मशान-भूमितक पीछे-पीछे जाते हैं और मृत पुरुषके शरीरको चिताकी आगमें डालकर लौट आते हैं ।। ७४ ।।

नास्तिकान् निरनुक्रोशान् नरान् पापमते स्थितान् ।
वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ।। ७५ ।।

अतः तुम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके इच्छुक हो आलस्य छोड़कर नास्तिक, निर्दय तथा पापबुद्धि मनुष्योंको बिना किसी हिचकके बायें कर दो—कभी भूलकर भी उनका साथ न दो ।। ७५ ।।

एवमभ्याहते लोके कालेनोपनिपीडिते ।
सुमहद् धैर्यमालम्ब्य धर्मं सर्वात्मना कुरु ।। ७६ ।।

इस प्रकार जब सारा संसार कालसे आहत और पीड़ित हो रहा है, तब तुम महान् धैर्यका आश्रय ले सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आचरण करो ।। ७६ ।।

अथेमं दर्शनोपायं सम्यग् यो वेत्ति मानवः ।
सम्यक् स्वधर्मं कृत्वेह परत्र सुखमश्नुते ।। ७७ ।।

जो मनुष्य परमात्माके साक्षात्कारके इस साधनको भलीभाँति जानता है, वह इस लोकमें स्वधर्मका ठीक-ठीक पालन करके परलोकमें सुख भोगता है ।। ७७ ।।

न देहभेदे मरणं विजानतां
न च प्रणाशः स्वनुपालिते पथि ।
धर्मं हि यो वर्धयते स पण्डितो
य एव धर्माच्च्यवते स मुह्यति ।। ७८ ।।

जो ऐसा जानते हैं कि शरीरका नाश हो जानेपर भी अपनी मृत्यु नहीं होती है और शिष्ट पुरुषोंद्वारा पालित धर्म-मार्गपर चलनेवालोंका कभी नाश नहीं होता

है, वे ही बुद्धिमान् हैं। जो इन सब बातोंको सोच-विचारकर धर्मको बढ़ाता रहता है, वह विद्वान् है। जो धर्मसे गिर जाता है, वही मोहग्रस्त अथवा मूढ़ है ।।

प्रयुक्तयोः कर्मपथि स्वकर्मणोः
फलं प्रयोक्ता लभते यथाकृतम् ।
निहीनकर्मा निरयं प्रपद्यते
त्रिविष्टपं गच्छति धर्मपारगः ।। ७९ ।।

कर्मके मार्गपर प्रयोग (आचरण) में लाये गये जो अपने शुभाशुभ कर्म हैं, उनका फल कर्ताको उस कर्मके अनुसार प्राप्त होता है। नीच कर्म करनेवाला नरकमें पड़ता है और धर्माचरणमें पारङ्गत पुरुष स्वर्गलोकको जाता है ।। ७९ ।।

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्याद् भ्रश्यते न पुनर्यथा ।। ८० ।।

यह दुर्लभ मानव-शरीर स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये सीढ़ीके समान है। इसे पाकर अपने-आपको इस प्रकार धर्ममें एकाग्र करे, जिससे फिर उसे स्वर्गसे नीचे न गिरना पड़े ।। ८० ।।

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वर्गमार्गानुसारिणी ।
तमाहुः पुण्यकर्माणमशोच्यं पुत्रबान्धवैः ।। ८१ ।।

स्वर्गलोकके मार्गका अनुसरण करनेवाली जिसकी बुद्धि धर्मका कभी उल्लंघन नहीं करती, उसको पुण्यात्मा कहते हैं। वह पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके लिये कदापि शोचनीय नहीं है ।। ८१ ।।

यस्य नोपहता बुद्धिर्निश्चये ह्यवलम्बते ।
स्वर्गे कृतावकाशस्य नास्ति तस्य महद् भयम् ।। ८२ ।।

जिसकी बुद्धि दूषित न होकर दृढ़ निश्चयका सहारा लेती है, उसने स्वर्गमें अपने लिये स्थान बना लिया है। उसे नरकका महान् भय नहीं प्राप्त होता ।। ८२ ।।

तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः ।
तेषामल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ।। ८३ ।।

जो लोग तपोवनोंमें पैदा हुए और वहीं मृत्युको प्राप्त हो गये, उन्हें थोड़े-से ही धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि वे काम-भोगोंको जानते ही नहीं थे (अतः उन्हें त्यागनेके लिये उनको कष्ट सहन नहीं करना पड़ता) ।।

यस्तु भोगान् परित्यज्य शरीरेण तपश्चरेत् ।
न तेन किंचिन्न प्राप्तं तन्मे बहु मतं फलम् ।। ८४ ।।

जो भोगोंका परित्याग करके तपोवनमें जाकर शरीरसे तपस्या करता है, उसके लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो प्राप्त न हो। वही फल मुझे अधिक जान

पड़ता है ।। ८४ ।।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
अनागतान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ।। ८५ ।।

हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्र पहले जन्मोंमें हो चुके हैं और भविष्यमें होंगे। वे हममेंसे किसके हैं और हम उनमेंसे किसके हैं? ।। ८५ ।।

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ।। ८६ ।।

मैं अकेला हूँ। न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं दूसरे किसीका हूँ। मैं ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा ऐसा भी कोई नहीं दिखायी देता, जो मेरा हो ।। ८६ ।।

न तेषां भवता कार्यं न कार्यं तव तैरपि ।
स्वकृतैस्तानि यातानि भवांश्चैव गमिष्यति ।। ८७ ।।

न उनका तुम कुछ कर सकते हो और न वे तुम्हारे किसी काम आ सकते हैं। वे अपने कर्मोंके साथ चले गये और तुम भी चले जाओगे ।। ८७ ।।

इह लोके हि धनिनां स्वजनः स्वजनायते ।
स्वजनस्तु दरिद्राणां जीवतामपि नश्यति ।। ८८ ।।

इस संसारमें जो धनवान् हैं, उन्हींके स्वजन उनके साथ स्वजनोचित बर्ताव करते हैं; दरिद्रोंके स्वजन तो उनके जीते-जी ही उन्हें छोड़कर उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं ।। ८८ ।।

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
ततः क्लेशमवाप्नोति परत्रेह तथैव च ।। ८९ ।।

मनुष्य अपनी स्त्रीके लिये अशुभ कर्मका संचय करता है, फिर उसके फलरूपमें इहलोक और परलोकमें भी कष्ट उठाता है ।। ८९ ।।

पश्यति च्छिन्नभूतं हि जीवलोकं स्वकर्मणा ।
तत् कुरुष्व तथा पुत्र कृत्स्नं यत् समुदाहृतम् ।। ९० ।।

मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही इस जीव-जगत्को छिन्न-भिन्न हुआ देखता है, अतः बेटा! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब काममें लाओ ।। ९० ।।

तदेतत् सम्प्रदृश्यैव कर्मभूमिं प्रपश्यतः ।
शुभान्याचरितव्यानि परलोकमभीप्सता ।। ९१ ।।

इहलोक कर्मभूमि है—ऐसा समझकर इसकी ओर देखते हुए दिव्य लोकोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शुभ कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये ।। ९१ ।।

मासर्तुसंज्ञापरिवर्तकेण

सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण
भूतानि कालः पचति प्रसह्य ।। ९२ ।।

यह कालरूपी रसोइया बलपूर्वक सब जीवोंको पका रहा है। मास और ऋतु नामक करछुलसे वह जीवोंको उलटता-पलटता रहता है। सूर्य उसके लिये आगका काम देते हैं और कर्मफलके साक्षी रात और दिन उसके लिये ईंधन बने हुए हैं ।। ९२ ।।

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते
बलेन किं येन रिपुं न बाधते ।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ।। ९३ ।।

उस धनसे क्या लाभ, जिसे मनुष्य न तो किसीको दे सकता और न अपने उपभोगमें ही ला सकता है? उस बलसे क्या लाभ, जिससे शत्रुओंको बाधित न किया जा सके? उस शास्त्रज्ञानसे क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके? और उस जीवात्मासे क्या लाभ, जो न तो जितेन्द्रिय है और न मनको ही वशमें रख सकता है? ।।

भीष्म उवाच

इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु ।
शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदैशिकम् ।। ९४ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! व्यासजीके कहे हुए ये हितकर वचन सुनकर शुकदेवजी अपने पिताको छोड़कर मोक्षतत्त्वके उपदेशक गुरुके पास चले गये ।। ९४ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पावकाध्ययनं नामैकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पावकाध्ययन नामक तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२१ ।।

---

* मनुजीने धर्मके दस भेद ये बताये हैं—
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।
'धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च ।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ।। १ ।।

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरु-शुश्रूषा करनेसे कोई फल मिलता है तो वह मुझे बताइये ।। १ ।।

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः ।
स कर्म कलुषं कृत्वा क्लेशे महति धीयते ।। २ ।।

भीष्मजीने कहा—राजन्! जब बुद्धि काम-क्रोध आदि अनर्थोंसे युक्त हो जाती है, तब उससे प्रेरित हुए मनुष्यका मन पापमें प्रवृत्त होने लगता है। फिर वह मनुष्य दोषयुक्त कर्म करके महान् क्लेशमें पड़ जाता है ।। २ ।।

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम् ।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ।। ३ ।।

पापकर्म करनेवाले दरिद्र मानव दुर्भिक्षसे दुर्भिक्षको, क्लेशसे क्लेशको तथा भयसे भयको पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ।। ३ ।।

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ।। ४ ।।

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्म-परायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको पाते हैं ।।

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च ।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ।। ५ ।।

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जंगलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं। इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है? ।। ५ ।।

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः ।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ।। ६ ।।

जिन्हें देवपूजा और अतिथि-सत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मंगलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होने योग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ।। ६ ।।

पुलाका इव धान्येषु पुत्यण्डा इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ।। ७ ।।

जिनका उद्देश्य धर्मपालन नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धानोंमें थोथा धान और पक्षियोंमें सड़ा हुआ अंडा ।। ७ ।।

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ।। ८ ।।
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ।। ९ ।।

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है, तब उसका कर्मफल भी उसीके साथ सो जाता है। जब वह खड़ा होता है, तब वह भी उसके पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है, तब वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ।। ८-९ ।।

येन येन यथा यद् यत्पुरा कर्म सुनिश्चितम् ।
तत् तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ।। १० ।।

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ।। १० ।।

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तादपकर्षति ।। ११ ।।

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, वह शास्त्रविधानके अनुसार सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस प्राणिसमुदायको कर्मानुसार खींच ले जाता है ।। ११ ।।

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ।। १२ ।।

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लंघन नहीं करते हैं ।। १२ ।।

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पदे पदे ।। १३ ।।

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार पग-पगपर प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् पुनः निवृत्त हो जाते हैं ।। १३ ।।

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ।। १४ ।।

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्व शरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ।। १४ ।।

बालो युवा वा वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ।। १५ ।।

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, जन्म-जन्मान्तरमें उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल भोगता है ।। १५ ।।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ।। १६ ।।

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ।। १६ ।।

मलिनं हि यथा वस्त्रं पश्चाच्छुद्ध्यति वारिणा ।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ।। १७ ।।

जैसे मलिन हुआ वस्त्र पीछे जलसे धोनेपर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, (उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर) उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ।। १७ ।।

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन महामते ।
धर्मनिर्धूतपापानां संसिध्यन्ते मनोरथाः ।। १८ ।।

महामते! दीर्घकालतक की हुई तपस्यासे तथा धर्माचरणद्वारा जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं ।। १८ ।।

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृतां गतिः ।। १९ ।।

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार पुण्यात्मा ज्ञानियोंकी भी गतिका पता नहीं चलता ।। १९ ।।

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः ।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ।। २० ।।

दूसरोंको उलाहना देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधोंकी चर्चा करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जो सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्ममूलिको नाम द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्ममूलिकनामक तीन सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२२ ।।

त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीकी पुत्रप्राप्तिके लिये तपस्या और भगवान् शंकरसे वरप्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः ।
सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ।। १ ।।

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! व्यासजीके यहाँ महातपस्वी और धर्मात्मा शुकदेवजीका जन्म कैसे हुआ? तथा उन्होंने परम सिद्धि कैसे प्राप्त की? यह मुझे बताइये ।। १ ।।

कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः ।
न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्‌यं महात्मनः ।। २ ।।

तपस्याके धनी व्यासजीने किस स्त्रीके गर्भसे शुकदेवजीको उत्पन्न किया? हमें उन महात्मा शुकदेवजीकी माताका नाम नहीं मालूम है और हम उनके श्रेष्ठ जन्मका वृत्तान्त भी नहीं जानते हैं ।। २ ।।

कथं च बालस्य सतः सूक्ष्मज्ञाने गता मतिः ।
यथा नान्यस्य लोकेऽस्मिन् द्वितीयस्येह कस्यचित् ।। ३ ।।

शुकदेवजी अभी बालक थे तो भी सूक्ष्मज्ञानमें उनकी बुद्धि कैसे लगी? इस संसारमें उनके सिवा दूसरे किसीकी ऐसी बुद्धि नहीं देखी गयी ।। ३ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतोऽमृतमुत्तमम् ।। ४ ।।

महामते! मैं इस प्रसंगको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आपका यह अमृतके समान उत्तम एवं मधुर प्रवचन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ।। ४ ।।

माहात्म्यमात्मयोगं च विज्ञानं च शुकस्य ह ।
यथावदानुपूर्व्येण तन्मे ब्रूहि पितामह ।। ५ ।।

पितामह! आप मुझे शुकदेवजीका माहात्म्य, आत्मयोग और विज्ञान यथार्थ रीतिसे क्रमशः बताइये ।।

भीष्म उवाच

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।। ६ ।।

भीष्मजीने कहा—राजन्! कोई अधिक वर्षोंकी अवस्था हो जानेसे, बाल पक जानेसे, अधिक धन होनेसे तथा भाई-बन्धुओंकी संख्या बढ़ जानेसे भी बड़ा नहीं होता।

ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि हमलोगोंमेंसे जो वेदोंका प्रवचन कर सकेगा, वही महान् माना जायगा ।। ६ ।।

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ।
तदिन्द्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ।। ७ ।।

पाण्डुनन्दन! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे हो, उस सबकी जड़ तपस्या है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही तपस्याकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ।। ७ ।।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ।। ८ ।।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य इन्द्रियोंकी विषयासक्तिके कारण ही दोषको प्राप्त होता है और उन्हीं इन्द्रियोंको काबूमें कर लेनेपर वह सिद्धिका भागी होता है ।। ८ ।।

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
योगस्य कलया तात न तुल्यं विद्यते फलम् ।। ९ ।।

तात! सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञोंका जो फल है, वह योगकी सोलहवीं कलाके फलकी भी समानता नहीं कर सकता ।। ९ ।।

अत्र ते वर्तयिष्यामि जन्मयोगफलं तथा ।
शुकस्याग्र्यां गतिं चैव दुर्विदामकृतात्मभिः ।। १० ।।

राजन्! मैं तुम्हें शुकदेवजीका जन्म-वृत्तान्त, योगफल तथा अजितात्मा पुरुषोंकी समझमें न आनेवाली उनकी उत्कृष्ट गति बता रहा हूँ ।। १० ।।

मेरुशृङ्गे किल पुरा कर्णिकारवनायुते ।
विजहार महादेवो भीमैर्भूतगणैर्वृतः ।। ११ ।।

कहते हैं, पूर्वकालमें कनेरके वनोंसे सुशोभित मेरुपर्वतके शिखरपर भगवान् शंकर भयानक भूतगणोंको साथ ले विहार करते थे ।। ११ ।।

शैलराजसुता चैव देवी तत्राभवत् पुरा ।
तत्र दिव्यं तपस्तेपे कृष्णद्वैपायनस्तदा ।। १२ ।।

वहीं गिरिराजकुमारी उमादेवी भी उनके साथ ही निवास करती थीं। उन्हीं दिनों श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास उस पर्वतपर दिव्य तपस्या कर रहे थे ।। १२ ।।

योगेनात्मानमाविश्य योगधर्मपरायणः ।
धारयन् स तपस्तेपे पुत्रार्थं कुरुसत्तम ।। १३ ।।

कुरुश्रेष्ठ! योगधर्मपरायण व्यास योगके द्वारा अपने मनको परमात्मामें लगाकर धारणापूर्वक तपका अनुष्ठान करते थे। उनके तपका उद्देश्य था पुत्रकी प्राप्ति ।। १३ ।।

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य वा विभो ।
धैर्येण सम्मितः पुत्रो मम भूयादिति स्म ह ।। १४ ।।

उन्होंने यह संकल्प लेकर कि मुझे अग्नि, भूमि, जल, वायु अथवा आकाशके समान धैर्यशाली पुत्र प्राप्त हो, तपस्या आरम्भ की थी ।। १४ ।।

संकल्पेनाथ योगेन दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
वरयामास देवेशमास्थितस्तप उत्तमम् ।। १५ ।।

उक्त संकल्प लेकर योगके द्वारा उत्तम तपस्यामें लगे हुए वेदव्यासजीने अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ देवेश्वर महादेवजीसे वर-प्रार्थना की ।। १५ ।।

अतिष्ठन्मारुताहारः शतं किल समाः प्रभुः ।
आराधयन्महादेवं बहुरूपमुमापतिम् ।। १६ ।।

शक्तिशाली व्यासजी सौ वर्षोंतक केवल वायुभक्षण करते हुए अनेक रूपधारी उमापति महादेवजीकी आराधनामें लगे रहे ।। १६ ।।

तत्र ब्रह्मर्षयश्चैव सर्वे राजर्षयस्तथा ।
लोकपालाश्च लोकेशं साध्याश्च बहुभिः सह ।। १७ ।।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च दिवाकरनिशाकरौ ।
वसवो मरुतश्चैव सागराः सरितस्तथा ।। १८ ।।
अश्विनौ देवगन्धर्वास्तथा नारदपर्वतौ ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा ।। १९ ।।

वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, सभी राजर्षि, लोकपाल, बहुत-से अनुचरोंके सहित साध्य, आदित्य, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वसुगण, मरुद्गण, समुद्र, सरिताएँ, दोनों अश्विनीकुमार, देवता, गन्धर्व, नारद, पर्वत, गन्धर्वराज विश्वावसु, सिद्ध तथा अप्सराएँ भी लोकेश्वर महादेवजीकी आराधना करती थीं ।। १७—१९ ।।

तत्र रुद्रो महादेवः कर्णिकारमयीं शुभाम् ।
धारयाणः स्रजं भाति ज्योत्स्नामिव निशाकरः ।। २० ।।
तस्मिन् दिव्ये वने रम्ये देवदेवर्षिसंकुले ।
आस्थितः परमं योगमृषिः पुत्रार्थमच्युतः ।। २१ ।।

वहाँ महान् रुद्रदेव कनेर पुष्पोंकी मनोहर माला धारण किये चाँदनीसहित चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे। देवताओं तथा देवर्षियोंसे भरे हुए उस दिव्य रमणीय वनमें पुत्र-प्राप्तिके लिये परम योगका आश्रय ले मुनिवर व्यास तपस्यामें प्रवृत्त थे और उससे विचलित नहीं होते थे ।। २०-२१ ।।

न चास्य हीयते प्राणो न ग्लानिरुपजायते ।
त्रयाणामपि लोकानां तदद्भुतमिवाभवत् ।। २२ ।।

ऐसा कठोर तप करनेपर भी न तो उनके प्राण नष्ट हुए और न उन्हें थकान ही हुई। यह तीनों लोकोंके लिये अद्भुत-सी बात हुई ।। २२ ।।

जटाश्च तेजसा तस्य वैश्वानरशिखोपमाः ।

प्रज्वलन्त्यः स्म दृश्यन्ते युक्तस्यामिततेजसः ।। २३ ।।

योगयुक्त हुए अमित तेजस्वी व्यासजीकी जटाएँ उनके तेजसे आगकी लपटोंके समान प्रज्वलित दिखायी देती थीं ।। २३ ।।

मार्कण्डेयो हि भगवानेतदाख्यातवान् मम ।
स देवचरितानीह कथयामास मे सदा ।। २४ ।।

मुझे तो यह वृत्तान्त भगवान् मार्कण्डेयजीने सुनाया था। वे मुझे सदा ही देवताओंके चरित्र सुनाया करते थे ।।

एता अद्यापि कृष्णस्य तपसा तेन दीपिताः ।
अग्निवर्णा जटास्तात प्रकाशन्ते महात्मनः ।। २५ ।।

तात! उसी तपस्यासे उद्दीप्त हुई महात्मा व्यासजीकी ये जटाएँ आज भी अग्निके समान प्रकाशित हो रही हैं ।।

एवंविधेन तपसा तस्य भक्त्या च भारत ।
महेश्वरः प्रसन्नात्मा चकार मनसा मतिम् ।। २६ ।।

भारत! उनकी ऐसी तपस्या और भक्ति देखकर महादेवजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने मन-ही-मन उन्हें अभीष्ट वर देनेका विचार किया ।। २६ ।।

उवाच चैवं भगवांस्त्र्यम्बकः प्रहसन्निव ।
एवंविधस्ते तनयो द्वैपायन भविष्यति ।। २७ ।।

भगवान् शिव व्यासजीके सामने आये और हँसते हुए-से बोले—‘द्वैपायन! तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा ।। २७ ।।

यथा ह्यग्निर्यथा वायुर्यथा भूमिर्यथा जलम् ।
यथा च खं तथा शुद्धो भविता ते सुतो महान् ।। २८ ।।

‘जैसे अग्नि, जैसे वायु, जैसे पृथ्वी, जैसे जल और जैसे आकाश शुद्ध है, तुम्हारा पुत्र भी वैसा ही शुद्ध एवं महान् होगा ।। २८ ।।

तद्भावभावी तद्बुद्धिस्तदात्मा तदपाश्रयः ।
तेजसाऽऽवृत्य लोकांस्त्रीन् यशः प्राप्स्यति ते सुतः ।। २९ ।।

‘वह भगवद्भावमें रँगा होगा, भगवान्‌में ही उसकी बुद्धि होगी, भगवान्‌में ही उसका मन लगा रहेगा और एकमात्र भगवान्‌को ही वह अपना आश्रय समझेगा। उसके तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो जायँगे और तुम्हारा वह पुत्र महान् यश प्राप्त करेगा’ ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ
त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२३ ।।

चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी उत्पत्ति और उनके यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन एवं समावर्तन-संस्कारका वृत्तान्त

भीष्म उवाच

स लब्ध्वा परमं देवाद् वरं सत्यवतीसुतः ।
अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! महादेवजीसे उत्तम वर पाकर एक दिन सत्यवतीनन्दन व्यासजी अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे दो अरणी काष्ठ लेकर उनका मन्थन करने लगे ।। १ ।।

अथ रूपं परं राजन् बिभ्रतीं स्वेन तेजसा ।
घृताचीं नामाप्सरसमपश्यद् भगवानृषिः ।। २ ।।

नरेश्वर! इसी समय उन भगवान् महर्षि व्यासने वहाँ आयी हुई घृताची नामक अप्सराको देखा, जो अपने तेजसे परम मनोहर रूप धारण किये हुए थी ।। २ ।।

ऋषिरप्सरसं दृष्ट्वा सहसा काममोहितः ।
अभवद् भगवान् व्यासो वने तस्मिन् युधिष्ठिर ।। ३ ।।
सा च दृष्ट्वा तदा व्यासं कामसंविग्नमानसम् ।
शुकी भूत्वा महाराज घृताची समुपागमत् ।। ४ ।।

युधिष्ठिर! उस वनमें उस अप्सराको देखकर ऋषि भगवान् व्यास सहसा कामसे मोहित हो गये। महाराज! उस समय व्यासजीका हृदय कामसे व्याकुल हुआ देख घृताची अप्सरा शुकी होकर उनके पास आयी ।। ३-४ ।।

स तामप्सरसं दृष्ट्वा रूपेणान्येन संवृताम् ।
शरीरजेनानुगदः सर्वगात्रातिगेन ह ।। ५ ।।

उस अप्सराको दूसरे रूपसे छिपी हुई देख उनके सम्पूर्ण शरीरमें कामवेदना व्याप्त हो गयी ।। ५ ।।

स तु धैर्येण महता निगृह्णन् हृच्छयं मुनिः ।
न शशाक नियन्तुं तद् व्यासः प्रविसृतं मनः ।। ६ ।।

मुनिवर व्यास महान् धैर्यके साथ अपने कामवेगको रोकने लगे; परंतु अप्सराकी ओर गये हुए मनको रोकनेमें वे किसी तरह समर्थ न हो सके ।। ६ ।।

भावित्वाच्चैव भावस्य घृताच्या वपुषा हृतः ।

यत्नान्नियच्छतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया ।। ७ ।।
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमवापतत् ।

होनहार होकर ही रहती है; इसलिये व्यासजी घृताचीके रूपसे आकृष्ट हो गये। अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे अपने कामवेगको यत्नपूर्वक रोकते हुए महर्षि व्यासका वीर्य सहसा उस अरणीकाष्ठपर ही गिर पड़ा ।।

सोऽविशंकेन मनसा तथैव द्विजसत्तमः ।। ८ ।।
अरणी ममन्थ ब्रह्मर्षिस्तस्यां जज्ञे शुको नृप ।

नरेश्वर! उस समय भी द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि व्यास निःशंक मनसे दोनों अरणियोंके मन्थनमें ही लगे रहे। उसी समय अरणीसे शुकदेवजी प्रकट हो गये ।। ८½ ।।

शुक्रे निर्मथ्यामाने स शुको जज्ञे महातपाः ।। ९ ।।
परमर्षिर्महायोगी अरणीगर्भसम्भवः ।

अरणीके साथ-साथ शुक्रका भी मन्थन होनेसे महातपस्वी तथा महायोगी परम ऋषि शुकदेवजीका जन्म हो गया। वे अरणीके ही गर्भसे प्रकट हुए ।। ९½ ।।

यथाध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्यमुदावहम् ।। १० ।।
तथारूपः शुको जज्ञे प्रज्वलन्निव तेजसा ।

जैसे यज्ञमें हविष्यका वहन करनेवाली प्रज्वलित अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही रूपसे शुकदेवजी प्रकट हुए थे। वे अपने तेजसे मानो जाज्वल्यमान हो रहे थे ।। १०½ ।।

बिभ्रत् पितुश्च कौरव्य रूपवर्णमनुत्तमम् ।। ११ ।।
बभौ तदा भावितात्मा विधूम इव पावकः ।

कुरुनन्दन! अपने पिताके समान ही परम उत्तम रूप और कान्ति धारण किये पवित्रात्मा शुकदेव धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान हो रहे थे ।। ११½ ।।

तं गङ्गा सरितां श्रेष्ठा मेरुपृष्ठे जनेश्वर ।। १२ ।।
स्वरूपिणी तदाभ्येत्य तर्पयामास वारिणा ।

जनेश्वर! उसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ श्रीगंगाजी मूर्तिमती होकर मेरुपर्वतपर आयीं और उन्होंने अपने जलसे शुकदेवजीको तृप्त किया ।। १२½ ।।

अन्तरिक्षाच्च कौरव्य दण्डः कृष्णाजिनं च ह ।। १३ ।।
पपात भूमिं राजेन्द्र शुकस्यार्थे महात्मनः ।

कुरुनन्दन! राजेन्द्र! आकाशसे महात्मा शुकदेवके लिये दण्ड और काला मृगचर्म—ये दोनों वस्तुएँ पृथ्वीपर गिरीं ।। १३½ ।।

जेगीयन्ते स्म गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।। १४ ।।
देवदुन्दुभयश्चैव प्रावाद्यन्त महास्वनाः ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा तुम्बुरुनारदौ ।। १५ ।।

हाहा हूहूश्च गन्धर्वौ तुष्टुवुः शुकसम्भवम् ।

गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। देवताओंकी दुंदुभियाँ बड़े जोर-जोरसे बज उठीं। विश्वावसु, तुम्बुरु, नारद, हाहा और हूहू आदि गन्धर्व शुकदेवजीके जन्मकी बधाई गाने लगे ।। १४-१५½ ।।

तत्र शक्रपुरोगाश्च लोकपालाः समागताः ।। १६ ।।
देवा देवर्षयश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपि च ।

इन्द्र आदि सम्पूर्ण लोकपाल, देवता, देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी वहाँ आये ।। १६½ ।।

दिव्यानि सर्वपुष्पाणि प्रववर्ष च मारुतः ।। १७ ।।
जङ्गमाजङ्गमं चैव प्रहृष्टमभवज्जगत् ।

वायुने सब प्रकारके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की। चर और अचर सारा संसार हर्षसे खिल उठा ।। १७½ ।।

तं महात्मा स्वयं प्रीत्या देव्या सह महाद्युतिः ।। १८ ।।
जातमात्रं मुनेः पुत्रं विधिनोपानयत् तदा ।

तब महातेजस्वी महात्मा भगवान् शंकरने देवी पार्वतीके साथ स्वयं प्रसन्नतापूर्वक पधारकर महर्षि व्यासके उस नवजात पुत्रका विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार किया ।। १८½ ।।

तस्य देवेश्वरः शक्रो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ।। १९ ।।
ददौ कमण्डलुं प्रीत्या देववासांसि वा विभो ।

प्रभो! उस समय देवेश्वर इन्द्रने उन्हें प्रेमपूर्वक दिव्य एवं अद्भुत कमण्डलु तथा देवोचित वस्त्र प्रदान किये ।। १९½ ।।

हंसाश्च शतपत्राश्च सारसाश्च सहस्रशः ।। २० ।।
प्रदक्षिणमवर्तन्त शुकाश्चाषाश्च भारत ।

भारत! सहस्रों हंस, शतपत्र, सारस, शुक और नीलकण्ठ आदि पक्षी उनकी प्रदक्षिणा करने लगे ।। २०½ ।।

आरणेयस्ततो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः ।। २१ ।।
तत्रैवोवास मेधावी व्रतचारी समाहितः ।

तदनन्तर महातेजस्वी अरणिसम्भूत शुक वह दिव्य जन्म पाकर ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले वहीं रहने लगे। वे बड़े बुद्धिमान्, व्रतपालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे ।। २१½ ।।

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ।। २२ ।।
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा ।

महाराज! शुकदेवजीके जन्म लेते ही रहस्य और संग्रहसहित सम्पूर्ण वेद उसी प्रकार उनकी सेवामें उपस्थित हो गये, जैसे वे उनके पिता वेदव्यासकी सेवामें उपस्थित हुए थे ।। २२½ ।।

बृहस्पतिं च वव्रे स वेदवेदाङ्गभाष्यवित् ।। २३ ।।
उपाध्यायं महाराज धर्ममेवानुचिन्तयन् ।

महाराज! वेद-वेदांगोंकी विस्तृत व्याख्याके ज्ञाता शुकदेवजीने धर्मका विचार करके बृहस्पतिको अपना गुरु बनाया ।। २३½ ।।

सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ।। २४ ।।
इतिहासं च कार्त्स्न्येन राजशास्त्राणि वा विभो ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावृत्तो महामुनिः ।। २५ ।।

प्रभो! महामुनि शुकदेवने उनसे रहस्य और संग्रहसहित सम्पूर्ण वेदोंका, समूचे इतिहासका तथा राजशास्त्रका भी अध्ययन करके गुरुको दक्षिणा दे समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घरको प्रस्थान किया ।।

उग्रं तपः समारेभे ब्रह्मचारी समाहितः ।
देवतानामृषीणां च बाल्येऽपि स महातपाः ।
सम्मन्त्रणीयो मान्यश्च ज्ञानेन तपसा तथा ।। २६ ।।

उन्होंने एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उग्र तपस्या प्रारम्भ की। महातपस्वी शुकदेव ज्ञान और तपस्याके द्वारा बाल्यकालमें भी देवताओं तथा ऋषियोंके आदरणीय और उन्हें सलाह देने योग्य हो गये थे ।। २६ ।।

न त्वस्य रमते बुद्धिराश्रमेषु नराधिप ।
त्रिषु गार्हस्थ्यमूलेषु मोक्षधर्मानुदर्शिनः ।। २७ ।।

नरेश्वर! वे मोक्षधर्मपर ही दृष्टि रखते थे; अतः उनकी बुद्धि गार्हस्थ्य आश्रमपर अवलम्बित रहनेवाले तीनों आश्रमोंमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करती थी ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२४ ।।

पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे शुकदेवजीका मिथिलामें जाना और वहाँ उनका द्वारपाल, मन्त्री और युवती स्त्रियोंके द्वारा सत्कृत होनेके उपरान्त ध्यानमें स्थित हो जाना

भीष्म उवाच

स मोक्षमनुचिन्त्यैव शुकः पितरमभ्यगात् ।
प्राहाभिवाद्य च गुरुं श्रेयोऽर्थी विनयान्वितः ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! शुकदेवजी मोक्षका विचार करते हुए ही अपने पिता एवं गुरु व्यासजीके पास गये और विनीतभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम करके कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा रखकर उनसे इस प्रकार बोले— ।। १ ।।

मोक्षधर्मेषु कुशलो भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
यथा मे मनसः शान्तिः परमा सम्भवेत् प्रभो ।। २ ।।

‘प्रभो! आप मोक्षधर्ममें कुशल हैं; अतः मुझे ऐसा उपदेश कीजिये, जिससे मेरे चित्तको परम शान्ति मिले’ ।।

श्रुत्वा पुत्रस्य तु वचः परमर्षिरुवाच तम् ।
अधीष्व पुत्र मोक्षं वै धर्मांश्च विविधानपि ।। ३ ।।

पुत्रकी वह बात सुनकर महर्षि व्यासने कहा, ‘बेटा! तुम मोक्ष तथा अन्यान्य विविध धर्मोंका अध्ययन करो’ ।। ३ ।।

पितुर्नियोगाज्जग्राह शुको धर्मभृतां वरः ।
योगशास्त्रं च निखिलं कापिलं चैव भारत ।। ४ ।।

भारत! पिताकी आज्ञासे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ शुकने सम्पूर्ण योगशास्त्र तथा समस्त सांख्यका अध्ययन किया ।। ४ ।।

स तं ब्राह्मया श्रिया युक्तं ब्रह्मतुल्यपराक्रमम् ।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम् ।। ५ ।।
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् ।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः ।। ६ ।।

जब व्यासजीने यह समझ लिया कि मेरा पुत्र ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और मोक्षधर्ममें कुशल हो गया है तथा समस्त शास्त्रोंमें इसकी ब्रह्माके समान गति हो गयी है, तब उन्होंने कहा—‘बेटा! अब तुम मिथिलाके राजा जनकके पास जाओ। वे मिथिलानरेश तुम्हें सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका सार सिद्धान्त बता देंगे’ ।। ५-६ ।।

पितुर्नियोगमादाय जगाम मिथिलां नृप ।
प्रष्टुं धर्मस्य निष्ठां वै मोक्षस्य च परायणम् ।। ७ ।।

नरेश्वर! पिताकी आज्ञा पाकर शुकदेवजी धर्मकी निष्ठा और मोक्षका परम आश्रय पूछनेके लिये मिथिलाकी ओर चल दिये ।। ७ ।।

उक्तश्च मानुषेण त्वं पथा गच्छेत्यविस्मितः ।
न प्रभावेण गन्तव्यमन्तरिक्षचरेण वै ।। ८ ।।

जाते समय व्यासजीने फिर बिना किसी विस्मयके कहा—‘बेटा! जिस मार्गसे साधारण मनुष्य चलते हों, उसीसे तुम भी जाना। अपनी योगशक्तिका आश्रय लेकर आकाशमार्गसे कदापि यात्रा न करना ।। ८ ।।

आर्जवेणैव गन्तव्यं न सुखान्वेषिणा तथा ।
नान्वेष्टव्या विशेषास्तु विशेषा हि प्रसङ्गिनः ।। ९ ।।

‘सरलभावसे ही यात्रा करनी चाहिये। रास्तेमें सुख और सुविधाकी खोज नहीं करनी चाहिये। विशेष-विशेष व्यक्तियों अथवा स्थानोंका अनुसंधान न करना; क्योंकि इससे उनके प्रति आसक्ति हो जाती है ।। ९ ।।

अहंकारो न कर्तव्यो याज्ये तस्मिन् नराधिपे ।
स्थातव्यं च वशे तस्य स ते छेत्स्यति संशयम् ।। १० ।।

‘राजा जनक मेरे यजमान हैं, ऐसा समझकर उनके प्रति अहंकार न प्रकट करना तथा सब प्रकारसे उनकी आज्ञाके अधीन रहना। वे तुम्हारी सब शंकाओंका समाधान कर देंगे ।। १० ।।

स धर्मकुशलो राजा मोक्षशास्त्रविशारदः ।
याज्यो मम स यद् ब्रूयात् तत् कार्यमविशङ्कया ।। ११ ।।

‘मेरे यजमान राजा जनक धर्मनिपुण तथा मोक्ष-शास्त्रमें प्रवीण हैं। वे तुम्हें जो आज्ञा दें, उसीका निःशंक होकर पालन करना’ ।। ११ ।।

एवमुक्तः स धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः ।
पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथ्वीं ससागराम् ।। १२ ।।

पिताके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनि शुकदेवजी मिथिलाकी ओर चल दिये। यद्यपि वे आकाशमार्गसे सारी पृथ्वीको लाँघ जानेमें समर्थ थे, तो भी पैदल ही चले ।। १२ ।।

स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च ।
बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च ।। १३ ।।
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः ।
क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ।। १४ ।।

मार्गमें उन्हें अनेक पर्वत, नदी, तीर्थ और सरोवर पार करने पड़े। बहुत-से सर्पों और वन्य पशुओंसे भरे हुए कितने ही जंगलोंमें होकर जाना पड़ा। उन सबको लाँघकर क्रमशः

मेरु (इलावृत) वर्ष, हरिवर्ष और हैमवत (किम्पुरुष) वर्षको पार करते हुए वे भारतवर्षमें आये ।। १३-१४ ।।

स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान् ।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः ।। १५ ।।

चीन और हूण जातिके लोगोंसे सेवित नाना प्रकारके देशोंका दर्शन करते हुए महामुनि शुकदेवजी इस आर्यावर्त देशमें आ पहुँचे ।। १५ ।।

पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ।। १६ ।।

पिताकी आज्ञा मानकर उसी ज्ञातव्य विषयका चिन्तन करते हुए उन्होंने सारा मार्ग पैदल ही तै किया। जैसे आकाशचारी पक्षी आकाशमें विचरता है, उसी प्रकार वे भूतलपर विचरण करते थे ।। १६ ।।

पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च ।
रत्नानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ।। १७ ।।

रास्तेमें बड़े सुन्दर-सुन्दर शहर और कस्बे तथा समृद्धिशाली नगर दिखायी पड़े। भाँति-भाँतिके विचित्र रत्न दृष्टिगोचर हुए; किंतु शुकदेवजी उनकी ओर देखते हुए भी नहीं देखते थे ।। १७ ।।

उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च ।
पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ।। १८ ।।

पथिक शुकदेवजीने बहुत-से मनोहर उद्यान तथा घर और मन्दिर देखकर उनकी उपेक्षा कर दी। कितने ही पवित्र रत्न उनके सामने पड़े, परंतु वे सबको लाँघकर आगे बढ़ गये ।। १८ ।।

सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह ।
रक्षितान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना ।। १९ ।।

इस प्रकार यात्रा करते हुए वे थोड़े ही समयमें धर्मराज महात्मा जनकद्वारा पालित विदेहप्रान्तमें जा पहुँचे ।। १९ ।।

तत्र ग्रामान् बहून् पश्यन् बह्वन्नरसभोजनान् ।
पल्लीघोषान् समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ।। २० ।।

वहाँ बहुत-से गाँव उनकी दृष्टिमें आये, जहाँ अन्न, पानी तथा नाना प्रकारकी खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रामें मौजूद थी। छोटी-छोटी टोलियाँ तथा गोष्ठ (गौओंके रहनेके स्थान) भी दृष्टिगोचर हुए, जो बड़े समृद्धिशाली और बहुसंख्यक गोसमुदायोंसे भरे हुए थे ।। २० ।।

स्फीतांश्च शालियवसैर्हंससारससेवितान् ।
पद्मिनीभिश्च शतशः श्रीमतीभिरलङ्कृतान् ।। २१ ।।

सारे विदेहप्रान्तमें सब ओर अगहनी धानकी खेती लहलहा रही थी। वहाँके निवासी धन-धान्यसे सम्पन्न थे। उस देशमें चारों ओर हंस और सारस निवास करते थे। कमलोंसे अलंकृत सैकड़ों सुन्दर सरोवर विदेह-राज्यकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। २१ ।।

स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान् ।
मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ।। २२ ।।

इस प्रकार समृद्धिशाली मनुष्योंद्वारा सेवित विदेह-देशको लाँघकर वे मिथिलाके समृद्धिसम्पन्न रमणीय उपवनके पास जा पहुँचे ।। २२ ।।

हस्त्यश्वरथसंकीर्णं नरनारीसमाकुलम् ।
पश्यन्नपश्यन्निव तत् समतिक्रामदच्युतः ।। २३ ।।

वह स्थान हाथी, घोड़े और रथोंसे भरा था। असंख्य नर-नारी वहाँ आते-जाते दिखायी देते थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शुकदेवजी वह सब देखकर भी नहीं देखते हुए-से वहाँसे आगे बढ़ गये ।। २३ ।।

मनसा तं वहन् भारं तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
आत्मारामः प्रसन्नात्मा मिथिलामाससाद ह ।। २४ ।।

मनसे जिज्ञासाका भार वहन करते और उस ज्ञेय वस्तुका ही चिन्तन करते हुए आत्माराम प्रसन्नचित्त शुकदेवने मिथिलामें प्रवेश किया ।। २४ ।।

तस्या द्वारं समासाद्य निःशङ्कः प्रविवेश ह ।
तत्रापि द्वारपालास्तमुग्रवाचा न्यषेधयन् ।। २५ ।।

नगरद्वारपर पहुँचकर वे निःशंकभावसे उसके भीतर प्रवेश करने लगे। तब वहाँ द्वारपालोंने कठोर वाणीद्वारा उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया ।। २५ ।।

तथैव च शुकस्तत्र निर्मन्युः समतिष्ठत ।
न चातपाध्वसंतप्तः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।। २६ ।।

शुकदेवजी वहीं खड़े हो गये; किंतु उनके मनमें किसी प्रकारका खेद या क्रोध नहीं हुआ। रास्तेकी थकावट और सूर्यकी धूपसे उन्हें संताप नहीं पहुँचा था। भूख और प्यास उन्हें कष्ट नहीं दे सकी थी ।। २६ ।।

प्रताम्यति ग्लायति वा नापैति च तथाऽऽतपात् ।
तेषां तु द्वारपालानामेकः शोकसमन्वितः ।। २७ ।।

वे उस धूपसे न तो संतप्त होते थे, न ग्लानिका अनुभव करते थे और न धूपसे हटकर छायामें ही जाते थे। उस समय उन द्वारपालोंमेंसे एकको अपने व्यवहारपर बड़ा दुःख हुआ ।। २७ ।।

मध्यं गतमिवादित्यं दृष्ट्वा शुकमवस्थितम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।। २८ ।।
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां द्वितीयां राजवेश्मनः ।

उसने मध्याह्नकालीन तेजस्वी सूर्यकी भाँति शुकदेवजीको चुपचाप खड़ा देख हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शास्त्रीय विधिके अनुसार उनकी यथोचित पूजा करके उन्हें राजभवनकी दूसरी कक्षामें पहुँचा दिया ।।

तत्रासीनः शुकस्तात मोक्षमेवान्वचिन्तयत् ।। २९ ।।
छायायामातपे चैव समदर्शी महाद्युतिः ।

तात! वहाँ एक जगह बैठकर महातेजस्वी शुकदेवजी मोक्षका ही चिन्तन करने लगे। धूप हो या छाया, दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी ।। २९½ ।।

तं मुहूर्तादिवागम्य राज्ञो मन्त्री कृताञ्जलिः ।। ३० ।।
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां तृतीयां राजवेश्मनः ।

थोड़ी ही देरमें राजमन्त्री हाथ जोड़े हुए वहाँ पधारे और उन्हें अपने साथ महलकी तीसरी ड्योढ़ीमें ले गये ।।

तत्रान्तःपुरसम्बद्धं महच्चैत्ररथोपमम् ।। ३१ ।।
सुविभक्तजलाक्रीडं रम्यं पुष्पितपादपम् ।
शुकं प्रावेशयन्मन्त्री प्रमदावनमुत्तमम् ।। ३२ ।।

वहाँ अन्तःपुरसे सटा हुआ एक बहुत सुन्दर विशाल बगीचा था, जो चैत्ररथ वनके समान मनोहर जान पड़ता था। उसमें पृथक्-पृथक् जल-क्रीड़ाके लिये अनेक सुन्दर जलाशय बने हुए थे। वह रमणीय उपवन खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित होता था। उस उत्तम उद्यानका नाम था प्रमदावन। मन्त्रीने शुकदेवजीको उसके भीतर पहुँचा दिया ।। ३१-३२ ।।

स तस्यासनमादिश्य निश्चक्राम ततः पुनः ।
तं चारुवेषाः सुश्रोण्यस्तरुण्यः प्रियदर्शनाः ।। ३३ ।।
सूक्ष्मरक्ताम्बरधरास्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।
संलापोल्लापकुशला नृत्यगीतविशारदाः ।। ३४ ।।
स्मितपूर्वाभिभाषिण्यो रूपेणाप्सरसां समाः ।
कामोपचारकुशला भावज्ञाः सर्वकोविदाः ।। ३५ ।।
परं पञ्चाशतं नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन् ।

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन बताकर राजमन्त्री पुनः प्रमदावनसे बाहर निकल आये। मन्त्रीके जाते ही पचास प्रमुख वारांगनाएँ शुकदेवजीके पास दौड़ी आयीं। उनकी वेश-भूषा बड़ी मनोहारिणी थी। वे सब-की-सब देखनेमें परम सुन्दरी और नवयुवती थीं। वे सुरम्य कटिप्रदेशसे सुशोभित थीं। उनके सुन्दर अंगोंपर लाल रंगकी महीन साड़ियाँ शोभा पा रही थीं। तपाये हुए सुवर्णके आभूषण उनका सौन्दर्य बढ़ा रहे थे। वे बातचीत करनेमें कुशल और नाचने-गानेकी कलामें बड़ी प्रवीण थीं। उनका रूप अप्सराओंके समान था, वे मन्द मुसकानके साथ बातें करतीं और दूसरोंके मनका भाव समझ लेती थीं। कामचर्यामें कुशल और सम्पूर्ण कलाओंका विशेष ज्ञान रखनेवाली थीं ।। ३३—३५½ ।।

पाद्यादीनि प्रतिग्राह्य पूजया परयार्चयन् ।। ३६ ।।
कालोपपन्नेन तदा स्वाद्वन्नेनाभ्यतर्पयन् ।

उन्होंने पाद्य, अर्घ्य आदि निवेदन करके उत्तम विधिसे शुकदेवजीका पूजन किया और उन्हें समयानुकूल स्वादिष्ठ अन्न भोजन कराकर पूर्णतः तृप्त किया ।। ३६½ ।।

तस्य भुक्तवतस्तात तदन्तःपुरकाननम् ।। ३७ ।।
सुरम्यं दर्शयामासुरेकैकश्येन भारत ।

तात! भरतनन्दन! जब वे भोजन कर चुके, तब वे वारांगनाएँ उन्हें साथ लेकर अन्तःपुरके उस सुरम्य कानन—प्रमदावनकी सैर कराने और वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाने लगीं ।। ३७½ ।।

क्रीडन्त्यश्च हसन्त्यश्च गायन्त्यश्चापिताः शुभम् ।। ३८ ।।
उदारसत्त्वं सत्त्वज्ञाः स्त्रियः पर्यचरंस्तथा ।

उस समय वे हँसती, गाती तथा नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीड़ाएँ करती थीं। मनके भावको समझनेवाली वे सुन्दरियाँ उन उदारचित्त शुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं ।। ३८½ ।।

आरणेयस्तु शुद्धात्मा निःसंदेहः स्वकर्मकृत् ।। ३९ ।।
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो न हृष्यति न कुप्यति ।

परंतु अरणिसम्भव शुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध था। वे इन्द्रियों और क्रोधपर विजय पा चुके थे। उन्हें न तो किसी बातपर हर्ष होता था और न वे किसीपर क्रोध ही करते थे। उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था और वे सदा अपने कर्तव्यका पालन किया करते थे ।। ३९½ ।।

तस्मै शय्यासनं दिव्यं देवर्हं रत्नभूषितम् ।। ४० ।।
स्पर्ध्यास्तरणसंकीर्णं ददुस्ताः परमस्त्रियः ।

उन सुन्दरी रमणियोंने देवताओंके बैठने योग्य एक दिव्य पलंग, जिसमें रत्न जड़े हुए थे और जिसपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे, शुकदेवजीको सोनेके लिये दिया ।। ४०½ ।।

पादशौचं तु कृत्वैव शुकः संध्यामुपास्य च ।। ४१ ।।
निषसादासने पुण्ये तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
पूर्वरात्रे तु तत्रासौ भूत्वा ध्यानपरायणः ।। ४२ ।।
मध्यरात्रे यथान्यायं निद्रामाहारयत् प्रभुः ।

परंतु शुकदेवजीने पहले हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रातके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ होकर बैठे रहे। फिर रात्रिके मध्यभाग (दूसरे और तीसरे पहर) में प्रभावशाली शुकने यथोचित निद्राको स्वीकार किया ।। ४१-४२½ ।।

ततो मुहूर्तादुत्थाय कृत्वा शौचमनन्तरम् ।। ४३ ।।
स्त्रीभिः परिवृतो धीमान् ध्यानमेवान्वपद्यत ।। ४४ ।।

तदनन्तर जब दो घड़ी रात बाकी रह गयी, उस समय ब्रह्मवेलामें वे पुनः उठ गये और शौच-स्नान करनेके अनन्तर बुद्धिमान् शुकदेव फिर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं ।। ४३-४४ ।।

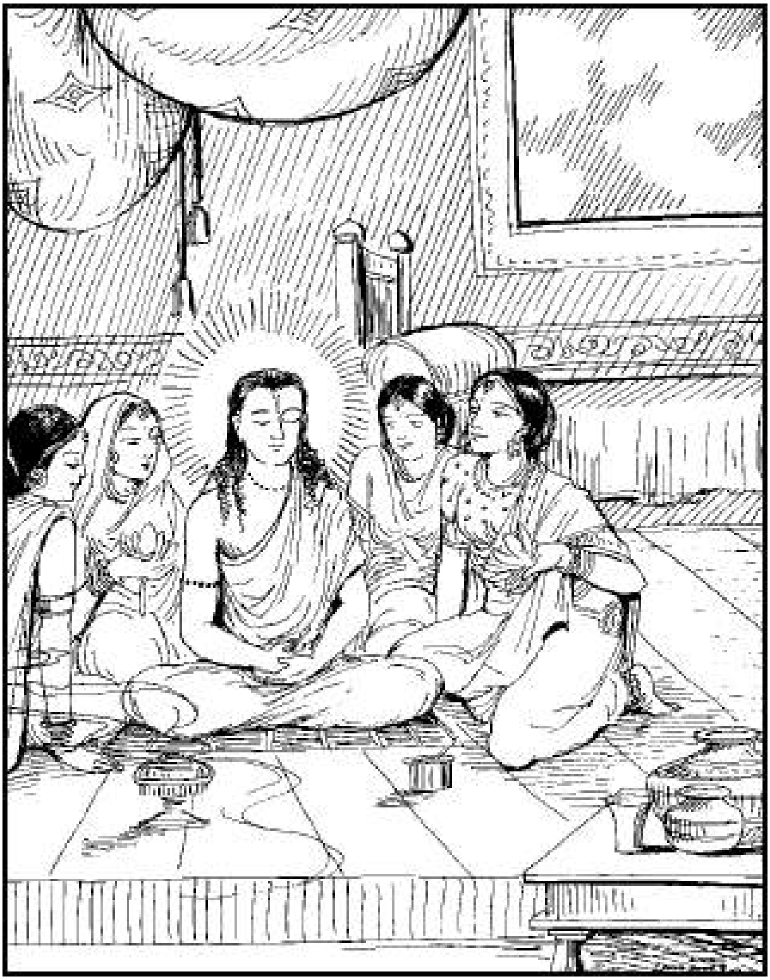

अनेन विधिना कार्ष्णिस्तदहः शेषमच्युतः ।
तां च रात्रिं नृपकुले वर्तयामास भारत ।। ४५ ।।

भरतनन्दन! इस विधिसे अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले व्यासनन्दन शुकने दिनका शेष भाग और समूची रात उस राजभवनमें रहकर व्यतीत की ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुककी उत्पत्तिविषयक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२५ ।।

षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन तथा उनके प्रश्नका समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अन्य तीनों आश्रमोंकी अनावश्यकताका प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

भीष्म उवाच

ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत ।
पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च ।। १ ।।
आसनं च पुरस्कृत्य रत्नानि विविधानि च ।
शिरसा चार्घ्यमादाय गुरुपुत्रं समभ्यगात् ।। २ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियों और पुरोहितको आगे करके आसन तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लिये मस्तकपर अर्घ्यपात्र रखकर गुरुपुत्र शुकदेवजीके पास आये ।। १-२ ।।

स तदाऽऽसनमादाय बहुरत्नविभूषितम् ।
स्पर्द्ध्यास्तरणसंस्तीर्णं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ।। ३ ।।
पुरोधसा संगृहीतं हस्तेनालभ्य पार्थिवः ।
प्रददौ गुरुपुत्राय शुकाय परमार्चितम् ।। ४ ।।

उस समय जिसे पुरोहितने ले रखा था, वह सर्वतोभद्र नामक बहुरत्नजटित आसन, जिसपर मूल्यवान् बिछौने बिछे हुए थे, उनके हाथसे अपने हाथमें लेकर राजा जनकने गुरुपुत्र शुकदेवको समर्पित किया। वह आसन समृद्धिसे सम्पन्न था ।। ३-४ ।।

तत्रोपविष्टं तं कार्ष्णिं शास्त्रतः प्रत्यपूजयत् ।
पाद्यं निवेद्य प्रथममर्घ्यं गां च न्यवेदयत् ।। ५ ।।

व्यासपुत्र शुकदेव जब उस आसनपर विराजमान हुए, तब राजा जनकने शास्त्रके अनुसार उनका पूजन आरम्भ किया। पहले पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके राजाने उन्हें एक गौ प्रदान की ।। ५ ।।

स च तां मन्त्रवत्पूजां प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकाद् द्विजसत्तमः ।। ६ ।।
गां चैव समनुज्ञाय राजानमनुमान्य च ।
पर्यपृच्छन्महातेजा राज्ञः कुशलमव्ययम् ।। ७ ।।

द्विजश्रेष्ठ शुकदेवजीने राजा जनककी ओरसे प्राप्त हुई वह मन्त्रयुक्त सविधि पूजा स्वीकार की। पूजा ग्रहण करनेके पश्चात् गोदान स्वीकार करके राजाको आदर देते हुए महातेजस्वी शुकने उनका सदा बना रहनेवाला कुशल-समाचार पूछा ।। ६-७ ।।

अनामयं च राजेन्द्र शुकः सानुचरस्य ह ।
अनुशिष्टस्तु तेनासौ निषसाद सहानुगः ।। ८ ।।
उदारसत्त्वाभिजनो भूमौ राजा कृताञ्जलिः ।
कुशलं चाव्ययं चैव पृष्ट्वा वैयासकिं नृपः ।
किमागमनमित्येवं पर्यपृच्छत पार्थिवः ।। ९ ।।

राजेन्द्र! सेवकोंसहित राजाके आरोग्यका समाचार भी उन्होंने पूछा। फिर उनकी आज्ञा ले राजा अपने अनुचरवर्गके साथ वहाँ हाथ जोड़े हुए भूमिपर ही बैठ गये। राजाका हृदय तो उदार था ही, उनका कुल भी परम उदार था। उन पृथ्वीपति नरेशने व्यासनन्दन शुकसे उनके कुशल-मंगलकी जिज्ञासा करके पूछा—‘ब्रह्मन्! किस निमित्तसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है?’ ।। ८-९ ।।

शुक उवाच

पित्राहमुक्तो भद्रं ते मोक्षधर्मार्थकोविदः ।
विदेहराजो याज्यो मे जनको नाम विश्रुतः ।। १० ।।
तत्र गच्छस्व वै तूर्णं यदि ते हृदि संशयः ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा स ते च्छेत्स्यति संशयम् ।। ११ ।।

शुकदेवजीने कहा—राजन्! आपका कल्याण हो। मेरे पिताजीने मुझसे कहा है कि मेरे यजमान लोकप्रसिद्ध विदेहराज जनक मोक्षधर्मके विशेषज्ञ हैं। यदि प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्मके विषयमें तुम्हारे हृदयमें कोई संदेह हो तो तुरंत ही उनके पास चले जाओ। वे तुम्हारी सारी शंकाओंका समाधान कर देंगे ।। १०-११ ।।

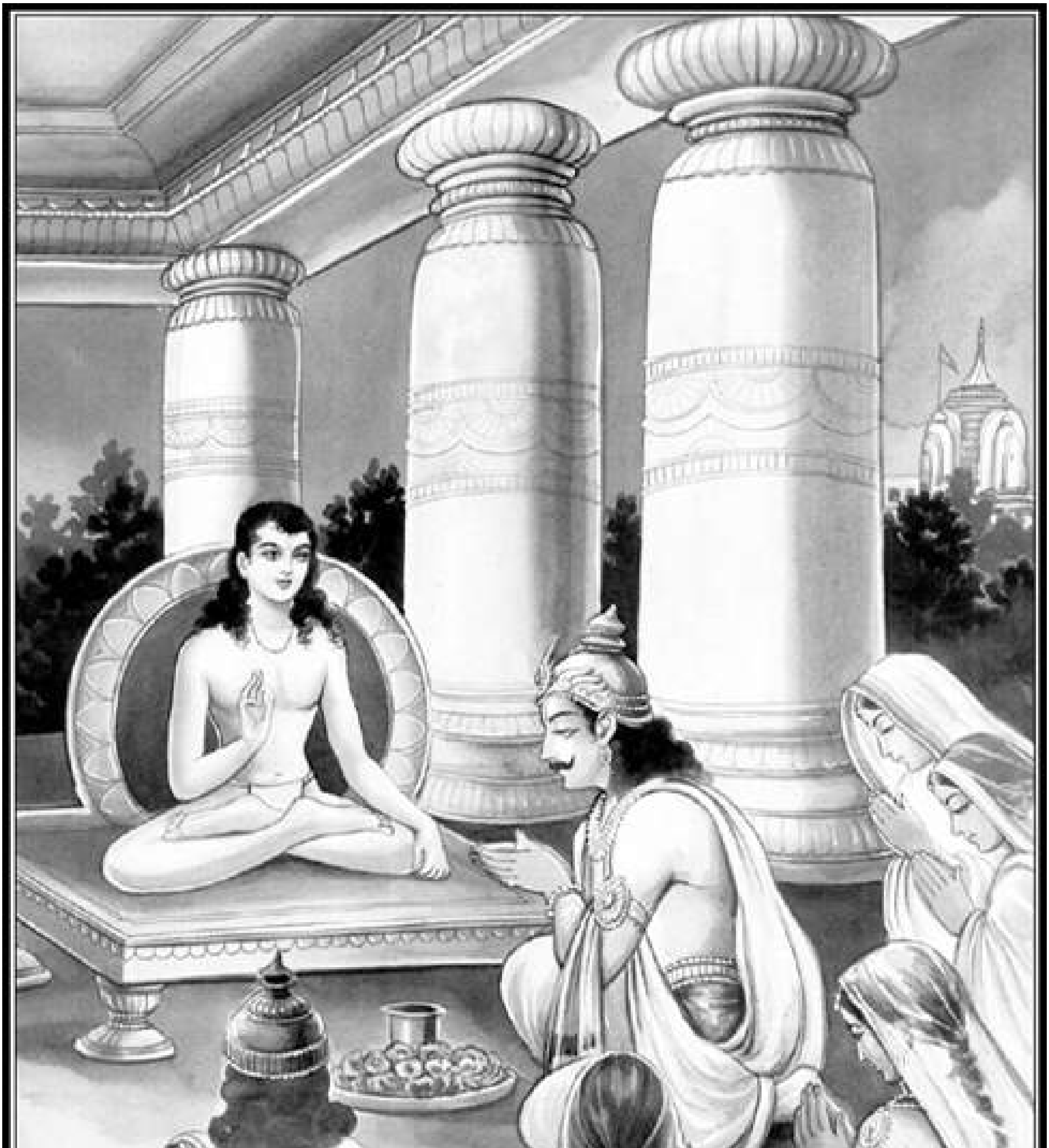

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन

सोऽहं पितुर्नियोगात् त्वामुपप्रष्टुमिहागतः ।
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ यथावद् वक्तुमर्हसि ।। १२ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! पिताकी इस आज्ञासे ही मैं यहाँ आपके पास कुछ पूछनेके लिये आया हूँ। आप मेरे प्रश्नोंका यथावत् उत्तर दें ।। १२ ।।

किं कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किमात्मकः ।
कथं च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन तपसाथवा ।। १३ ।।

ब्राह्मणका कर्तव्य क्या है? मोक्ष नामक पुरुषार्थका क्या स्वरूप है? उस मोक्षको ज्ञानसे अथवा तपस्यासे किस साधनसे प्राप्त किया जा सकता है? ।। १३ ।।

जनक उवाच

यत् कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु ।
कृतोपनयनस्तात भवेद् वेदपरायणः ।। १४ ।।

जनकने कहा—तात! ब्राह्मणको जन्मसे लेकर जो-जो कर्म करने चाहिये, उनको सुनिये—यज्ञोपवीत संस्कार हो जानेके बाद ब्राह्मण-बालकको वेदाध्ययनमें तत्पर होना चाहिये ।। १४ ।।

तपसा गुरुवृत्त्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो ।
देवतानां पितॄणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः ।। १५ ।।
वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च ।
अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः ।। १६ ।।

प्रभो! तपस्या, गुरुकी सेवा तथा ब्रह्मचर्यका पालन—इन तीन कर्मोंके साथ-साथ वेदाध्ययनका कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हवनकर्मद्वारा देवताओंके और तर्पणद्वारा वह पितरोंके ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करे। किसीके दोष न देखे और संयमपूर्वक रहकर वेदाध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् गुरुको दक्षिणा दे और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घरको लौटे ।।

समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत् ।
अनसूयुर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च ।। १७ ।।

घर आनेपर विवाह करके गार्हस्थ्य धर्मका पालन करे और अपनी ही स्त्रीके प्रति अनुराग रखे। दूसरोंके दोष न देखकर सबके साथ यथोचित बर्ताव करे और अग्निकी स्थापनाके पश्चात् प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहे ।। १७ ।।

उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु वन्याश्रमपदे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् यथाशास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः ।। १८ ।।

वहाँ पुत्र-पौत्र उत्पन्न करके पुत्रको गार्हस्थ्य धर्मका भार सौंपकर वनमें जा वानप्रस्थ-आश्रममें रहे। उस समय भी शास्त्रविधिके अनुसार उन्हीं गार्हपत्य आदि अग्नियोंकी

आराधना करते हुए अतिथियोंका प्रेमपूर्वक सत्कार करे ।। १८ ।।

स वनेऽग्नीन् यथान्यायमात्मन्यारोप्य धर्मवित् ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा ब्रह्माश्रमपदे वसेत् ।। १९ ।।

इसके बाद धर्मज्ञ पुरुष शास्त्रीय विधिके अनुसार अग्निहोत्रकी अग्नियोंका आत्मामें आरोप करके निर्द्वन्द्व एवं वीतराग होकर ब्रह्मचिन्तनसे सम्बन्ध रखनेवाले संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे ।। १९ ।।

शुक उवाच

उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वन्द्वे हृदि शाश्वते ।
किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत् त्रिषु ।। २० ।।

शुकदेवजीने पूछा—राजन्! यदि किसीके हृदयमें ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही सनातन ज्ञान-विज्ञान प्रकट हो जाय और हृदयके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व दूर हो जायँ तो भी क्या उसके लिये शेष तीन आश्रमोंमें रहना आवश्यक है? ।। २० ।।

एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
यथा वेदार्थतत्त्वेन ब्रूहि मे त्वं जनाधिप ।। २१ ।।

नरेश्वर! मैं यही बात आपसे पूछता हूँ। आप मुझे यह बतानेकी कृपा करें। वेदके वास्तविक सिद्धान्तके अनुसार क्या करना उचित है? यह आप मुझे बताइये ।। २१ ।।

जनक उवाच

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् ।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ।। २२ ।।

जनकने कहा—ब्रह्मन्! जैसे ज्ञान-विज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्‌गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।। २२ ।।

गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते ।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ।। २३ ।।

गुरु इस संसारसागरसे पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान यहाँ नौकाके समान बताया जाता है। मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो जाता है। जैसे नदीको पार कर लेनेपर मनुष्य नाव और नाविक दोनोंको छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त हुआ पुरुष गुरु और ज्ञान दोनोंको छोड़ दे ।। २३ ।।

अनुच्छेदाय लोकानामनुच्छेदाय कर्मणाम् ।
पूर्वैराचरितो धर्मश्चातुराश्रम्यसंकटः ।। २४ ।।

पहलेके विद्वान् लोकमर्यादाकी तथा कर्मपरम्पराकी रक्षा करनेके लिये चारों आश्रमोंसहित वर्णधर्मोंका पालन करते थे ।। २४ ।।

अनेन क्रमयोगेन बहुजातिषु कर्मणाम् ।

हित्वा शुभाशुभं कर्म मोक्षो नामेह लभ्यते ।। २५ ।।

इस तरह क्रमशः नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए शुभाशुभ कर्मोंकी आसक्तिका परित्याग करनेसे यहाँ मोक्षकी प्राप्ति होती है ।। २५ ।।

भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु ।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ।। २६ ।।

अनेक जन्मोंसे कर्म करते-करते जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं, तब शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य पहले ही आश्रममें अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें मोक्षरूप ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।। २६ ।।

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः ।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत् परमभीप्सतः ।। २७ ।।

उसे पाकर जब ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जाय तो परमात्माको चाहनेवाले जीवन्मुक्त विद्वान्के लिये शेष तीन आश्रमोंमें जानेकी क्या आवश्यकता है? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है ।। २७ ।।

राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान् विवर्जयेत् ।
सात्त्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना ।। २८ ।।

विद्वान्को चाहिये कि वह राजस और तामस दोषोंका सदा ही परित्याग कर दे और सात्त्विक मार्गका आश्रय लेकर बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करे ।।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन्नोपलिप्येत जले वारिचरो यथा ।। २९ ।।

जो सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखता है, वह संसारमें उसी तरह कहीं भी आसक्त नहीं होता जैसे जलचर पक्षी जलमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता ।। २९ ।।

पक्षिवत् प्रवणादूर्ध्वममुत्रानन्त्यमश्नुते ।
विहाय देहान्निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वः प्रशमं गतः ।। ३० ।।

वह तो घोंसलेको छोड़कर उड़ जानेवाले पक्षीकी भाँति इस देहसे पृथक् हो निर्द्वन्द्व एवं शान्त होकर परलोकमें अक्षयपद (मोक्ष)-को प्राप्त हो जाता है ।। ३० ।।

अत्र गाथाः पुरा गीताः शृणु राज्ञा ययातिना ।
धार्यन्ते या द्विजैस्तात मोक्षशास्त्रविशारदैः ।। ३१ ।।

तात! इस विषयमें पूर्वकालमें राजा ययातिके द्वारा गायी हुई गाथाएँ सुनिये, जिन्हें मोक्षशास्त्रके ज्ञाता द्विज सदा याद रखते हैं ।। ३१ ।।

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम् ।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ।। ३२ ।।

अपने भीतर ही आत्मज्योतिका प्रकाश है, अन्यत्र नहीं। वह ज्योति सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर समानरूपसे स्थित है। अपने चित्तको भलीभाँति एकाग्र करनेवाला उसको स्वयं देख सकता है ।। ३२ ।।

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः ।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ३३ ।।

जिससे दूसरा कोई प्राणी नहीं डरता, जो स्वयं दूसरे किसी प्राणीसे भयभीत नहीं होता तथा जो न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, वह तत्काल ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।। ३३ ।।

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ३४ ।।

जब मनुष्य मन, वाणी तथा क्रियाके द्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता अर्थात् समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।। ३४ ।।

संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम् ।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ।। ३५ ।।

जब मोहमें डालनेवाली ईर्ष्या, काम एवं मोहका त्याग करके साधक अपने मनको आत्मामें लगा देता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।। ३५ ।।

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम् ।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ३६ ।।

जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थोंमें तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाववाला हो जाता है एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।। ३६ ।।

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ।। ३७ ।।
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ३८ ।।

जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुतिको समान भावसे समझता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरणमें भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।। ३७-३८ ।।

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ।। ३९ ।।

जैसे कछुआ अपने अंगोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासीको मनके द्वारा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखना चाहिये ।। ३९ ।।

तमः परिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ।। ४० ।।

जैसे अन्धकारसे आच्छादित हुआ घर दीपकके प्रकाशसे देखा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारसे आवृत हुए आत्माका विशुद्ध बुद्धिरूपी दीपकके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है ।। ४० ।।

एतत् सर्वं च पश्यामि त्वयि बुद्धिमतां वर ।
यच्चान्यदपि वेत्तव्यं तत्त्वतो वेद तद् भवान् ।। ४१ ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शुकदेवजी! उपर्युक्त सारी बातें मुझे आपके भीतर दिखायी देती हैं। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ जानने योग्य तत्त्व है, उसे आप ठीक-ठीक जानते हैं ।। ४१ ।।

ब्रह्मर्षे विदितश्चासि विषयान्तमुपागतः ।
गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया ।। ४२ ।।

ब्रह्मर्षे! मैं आपको अच्छी तरह जान गया। आप अपने पिताजीकी कृपा और उन्हींसे मिली हुई शिक्षाद्वारा विषयोंसे परे हो चुके हैं ।। ४२ ।।

तस्यैव च प्रसादेन प्रादुर्भूतं महामुने ।
ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनासि विदितो मम ।। ४३ ।।

महामुने! उन्हीं गुरुदेवकी कृपासे मुझे भी यह दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिससे मैं आपकी स्थितिको ठीक-ठीक समझ गया हूँ ।। ४३ ।।

अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव ।
अधिकं तव चैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्यसे ।। ४४ ।।

आपका विज्ञान, आपकी गति और आपका ऐश्वर्य—ये सभी अधिक हैं; परंतु आपको इस बातका पता नहीं है ।। ४४ ।।

बाल्याद् वा संशयाद् वापि भयाद् वाप्यविमोक्षजात् ।
उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ।। ४५ ।।

बालस्वभावके कारण, संशयसे अथवा मोक्ष न मिलनेके काल्पनिक भयसे मनुष्यको विज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ।। ४५ ।।

व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः ।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् ।। ४६ ।।

मेरे-जैसे लोगों द्वारा जिसका संशय नष्ट हो गया है, वह साधक विशुद्ध निश्चयके द्वारा हृदयकी गाँठें खोलकर उस परमगतिको प्राप्त कर लेता है ।। ४६ ।।

भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः ।
व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम् ।। ४७ ।।

ब्रह्मन्! आपको ज्ञान प्राप्त हो चुका है। आपकी बुद्धि भी स्थिर है तथा आपमें विषयलोलुपताका भी सर्वथा अभाव हो गया है, परंतु विशुद्ध निश्चयके बिना कोई

परमात्मभावको नहीं प्राप्त होता है ।। ४७ ।।

नास्ति ते सुखदुःखेषु विशेषो नासि लोलुपः ।
नौत्सुक्यं नृत्यगीतेषु न राग उपजायते ।। ४८ ।।

आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मनमें लोभ नहीं है। आपको न तो नाच देखनेकी उत्कण्ठा होती है और न गीत सुननेकी। किसी विषयके प्रति आपके मनमें रण नहीं उत्पन्न होता है ।। ४८ ।।

न बन्धुष्वनुबन्धस्ते न भयेष्वस्ति ते भयम् ।
पश्यामि त्वां महाभाग तुल्यलोष्टाश्मकाञ्चनम् ।। ४९ ।।

महाभाग! न तो भाई-बन्धुओंमें आपकी आसक्ति है, न भयदायक पदार्थोंसे आपको भय ही होता है। मैं देखता हूँ, आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं ।। ४९ ।।

अहं त्वामनुपश्यामि ये चाप्यन्ये मनीषिणः ।
आस्थितं परमं मार्गमक्षयं तमनामयम् ।। ५० ।।

मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय परम मार्ग (मोक्ष) में स्थित मानते हैं ।। ५० ।।

यत् फलं ब्राह्मणस्येह मोक्षार्थश्च यदात्मकः ।
तस्मिन् वै वर्तसे ब्रह्मन् किमन्यत् परिपृच्छसि ।। ५१ ।।

ब्रह्मन्! इस जगत्में ब्राह्मण होनेका जो फल है और मोक्षका जो स्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है। अब और क्या पूछना चाहते हैं? ।। ५१ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकोत्पत्तिविषयक तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२६ ।।

सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका पिताके पास लौट आना तथा व्यासजीका अपने शिष्योंको स्वाध्यायकी विधि बताना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं कृतात्मा कृतनिश्चयः ।
आत्मनाऽऽत्मानमास्थाय दृष्ट्वा चात्मानमात्मना ।। १ ।।
कृतकार्यः सुखी शान्तस्तूष्णीं प्रायादुदङ्मुखः ।
शैशिरं गिरिमुद्दिश्य सधर्मा मातरिश्वनः ।। २ ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजा जनककी यह बात सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले शुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये। एवं आनन्दमग्न हो, बड़ी शान्तिका अनुभव करते हुए हिमालयपर्वतको लक्ष्य करके वायुके समान वेगसे चुपचाप उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ।। १-२ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु देवर्षिर्नारदस्तथा ।
हिमवन्तमियाद् द्रष्टुं सिद्धचारणसेवितम् ।। ३ ।।

इसी समय देवर्षि नारद सिद्धों और चारणोंसे सेवित हिमालय पर्वतपर उसका दर्शन करनेके लिये आये ।। ३ ।।

तमप्सरोगणाकीर्णं शान्तस्वननिनादितम् ।
किन्नराणां सहस्रैश्च भृङ्गैस्तथैव च ।। ४ ।।
मद्गुभिः खञ्जरीटैश्च विचित्रैर्जीवजीवकैः ।। ५ ।।
चित्रवर्णैर्मयूरैश्च केकाशतविराजितैः ।
राजहंससमूहैश्च कृष्णैः परभृतैस्तथा ।। ६ ।।

उस पर्वतपर सब ओर अप्सराएँ विचर रही थीं। चारों ओर विविध प्राणियोंकी शान्तिमयी ध्वनिसे वहाँका सारा प्रान्त व्याप्त हो रहा था। सहस्रों किन्नर, भ्रमर, मद्गु, विचित्र खंजरीट, चकोर, सैकड़ों मधुर वाणीसे सुशोभित विचित्र वर्णवाले मयूर, राजहंसोंके समुदाय तथा काले कोकिल वहाँ अपनी शान्त मधुर ध्वनि फैला रहे थे ।। ४-६ ।।

पक्षिराजो गरुत्मांश्च यं नित्यमधितिष्ठति ।
चत्वारो लोकपालाश्च देवाः सर्षिगणास्तथा ।। ७ ।।
तत्र नित्यं समायान्ति लोकस्य हितकाम्यया ।

पक्षिराज गरुड उस पर्वतपर नित्य विराजमान होते हैं। चारों लोकपाल, देवता तथा ऋषिगण सम्पूर्ण जगत्‌के हितकी कामनासे वहाँ सदा आते रहते हैं ।। ७½ ।।

विष्णुना यत्र पुत्रार्थे तपस्तप्तं महात्मना ।। ८ ।।
तत्रैव च कुमारेण बाल्ये क्षिप्ता दिवौकसः ।
शक्तिर्न्यस्ता क्षितितले त्रैलोक्यमवमन्य वै ।। ९ ।।

वहीं महात्मा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) ने पुत्रके लिये तप किया था। वहीं कुमार कार्तिकेयने बाल्यावस्थामें देवताओंपर आक्षेप किया था और त्रिलोकीका अपमान करके पृथ्वीमें अपनी शक्ति गाड़ दी थी ।। ८-९ ।।

तत्रोवाच जगत् स्कन्दः क्षिपन् वाक्यमिदं तदा ।
योऽन्योऽस्ति मत्तोऽभ्यधिको विप्रा यस्याधिकं प्रियाः ।। १० ।।
यो ब्रह्मण्यो द्वितीयोऽस्ति त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ।
सोऽभ्युद्धरत् त्विमां शक्तिमथवा कम्पयत्विति ।। ११ ।।

उस समय वहाँ स्कन्दने सम्पूर्ण जगत्‌पर आक्षेप करते हुए यह बात कही थी-'जो कोई भी दूसरा पुरुष मुझसे अधिक बलवान् हो, जिसे ब्राह्मण अधिक प्रिय हों, जो दूसरा व्यक्ति मुझसे भी अधिक ब्राह्मणभक्त तथा तीनों लोकोंमें पराक्रमशाली हो, वह इस शक्तिको उखाड़ दे अथवा हिला दे' ।। १०-११ ।।

तच्छ्रुत्वा व्यथिता लोकाः क इमामुद्धरेदिति ।
अथ देवगणं सर्वं सम्भ्रान्तेन्द्रियमानसम् ।। १२ ।।
अपश्यद् भगवान् विष्णुः क्षिप्तं सासुरराक्षसम् ।
किं त्वत्र सुकृतं कार्यं भवेदिति विचिन्तयन् ।। १३ ।।

उनकी यह तिरस्कारपूर्ण घोषणा सुनकर सब लोग व्यथित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'भला, कौन वीर इस शक्तिको उखाड़ सकता है?' उस समय भगवान् विष्णुने देखा कि सम्पूर्ण देवताओंकी इन्द्रियाँ और चित्त भयसे व्याकुल हैं तथा असुर और राक्षसों-सहित सम्पूर्ण जगत्‌पर स्कन्दद्वारा आक्षेप किया गया है। यह देखकर वे सोचने लगे कि यहाँ क्या करना अच्छा होगा? ।। १२-१३ ।।

अनामृष्य ततः क्षेपमवैक्षत च पावकिम् ।
सम्प्रगृह्य विशुद्धात्मा शक्तिं प्रज्वलितां तदा ।। १४ ।।
कम्पयामास सव्येन पाणिना पुरुषोत्तमः ।

तब उस आक्षेपको सहन न करके विशुद्धात्मा भगवान् विष्णुने अग्निकुमार स्कन्दकी ओर देखा। फिर उन पुरुषोत्तमने उस समय उस प्रज्वलित शक्तिको बायें हाथसे पकड़कर हिला दिया ।। १४½ ।।

शक्त्यां तु कम्प्यमानायां विष्णुना बलिना तदा ।। १५ ।।
मेदिनी कम्पिता सर्वा सशैलवनकानना ।

बलवान् भगवान् विष्णुके द्वारा उस शक्तिके कम्पित किये जानेपर पर्वत, वन और कानोंसहित सारी पृथ्वी काँप उठी ।। १५½ ।।

शक्तेनापि समुद्धर्तुं कम्पिता साभवत् तदा ।। १६ ।।
रक्षिता स्कन्दराजस्य धर्षणा प्रभविष्णुना ।

यद्यपि प्रभावशाली भगवान् विष्णु उसे उखाड़ फेंकनेमें समर्थ थे तो भी उन्होंने कुमार स्कन्दका तिरस्कार नहीं होने दिया। उन्हें अपमानसे बचा लिया ।। १६½ ।।

तां कम्पयित्वा भगवान् प्रह्लादमिदमब्रवीत् ।। १७ ।।
पश्य वीर्यं कुमारस्य नैतदन्यः करिष्यति ।

उस शक्तिको हिलाकर भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा—‘देखो, कुमारमें कितना बल है? यह कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकेगा’ ।। १७½ ।।

सोऽमृष्यमाणस्तद्वाक्यं समुद्धरणनिश्चितः ।। १८ ।।
जग्राह तां तदा शक्तिं न चैनां स व्यकम्पयत् ।

भगवान्‌के इस कथनको सहन न कर सकनेके कारण प्रह्लादने स्वयं ही उस शक्तिको उखाड़ फेंकनेका दृढ़ निश्चय कर लिया और उस शक्तिको पकड़कर खींचा; परंतु वे उसे हिला भी न सके ।। १८½ ।।

नादं महान्तं मुक्त्वा स मूर्च्छितो गिरिमूर्धनि ।। १९ ।।
विह्वलः प्रापतद् भूमौ हिरण्यकशिपोः सुतः ।

हिरण्यकशिपुकुमार प्रह्लाद बड़े जोरसे चिग्घाड़कर मूर्च्छित एवं व्याकुल हो उस पर्वतशिखरकी भूमिपर गिर पड़े ।। १९½ ।।

तत्रोत्तरां दिशं गत्वा शैलराजस्य पार्श्वतः ।। २० ।।
तपोऽतप्यत दुर्धर्षं तात नित्यं वृषध्वजः ।

तात! उसी गिरिराज हिमालयके पार्श्वभागमें उत्तर दिशाकी ओर जाकर भगवान् वृषध्वज शिवने नित्य-निरन्तर दुर्धर्ष तपस्या की है ।। २०½ ।।

पावकेन परिक्षिप्तं दीप्यता यस्य चाश्रमम् ।। २१ ।।
आदित्यपर्वतं नाम दुर्धर्षमकृतात्मभिः ।
न तत्र शक्यते गन्तुं यक्षराक्षसदानवैः ।। २२ ।।

भगवान् शंकरके उस आश्रमको प्रज्वलित अग्निने चारों ओरसे घेर रक्खा है। उस पर्वतशिखरका नाम आदित्यगिरि है, जिसपर अजितात्मा पुरुष नहीं चढ़ सकते। यक्ष, राक्षस और दानवोंके लिये वहाँ पहुँचना सर्वथा असम्भव है ।। २१-२२ ।।

दशयोजनविस्तारमग्निज्वालासमावृतम् ।
भगवान् पावकस्तत्र स्वयं तिष्ठति वीर्यवान् ।। २३ ।।

वह दस योजन विस्तृत शिखर आगकी लपटोंसे घिरा हुआ है। शक्तिशाली भगवान् अग्निदेव वहाँ स्वयं विराजमान हैं ।। २३ ।।

सर्वान् विघ्नान् प्रशमयन् महादेवस्य धीमतः ।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि पादेनैकेन तिष्ठतः ।। २४ ।।
देवान् संतापर्यस्तत्र महादेवो महाव्रतः ।

परम बुद्धिमान् महादेवजी सहस्र दिव्य वर्षोंतक वहाँ एक पैरसे खड़े रहे और उनकी तपस्याके सम्पूर्ण विघ्नोंका निवारण करते हुए अग्निदेव वहीं विराजमान थे। महान् व्रतधारी महादेवजी वहाँ देवताओंको संतप्त करते हुए महान् तपमें प्रवृत्त थे ।। २४½ ।।

ऐन्द्रीं तु दिशमास्थाय शैलराजस्य धीमतः ।। २५ ।।
विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ।
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान् महामतिः ।। २६ ।।
सुमन्तुं च महाभागं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम् ।। २७ ।।

उसी बुद्धिमान् गिरिराज हिमवान्‌की पूर्व दिशाका आश्रय लेकर पर्वतके एकान्त तटप्रान्तमें महातपस्वी महाबुद्धिमान् पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्य महाभाग सुमन्तु, महाबुद्धिमान् जैमिनि, तपस्वी पैल तथा वैशम्पायन-इन चार शिष्योंको वेद पढ़ा रहे थे ।। २५-२७ ।।

यत्र शिष्यैः परिवृतौ व्यास आस्ते महातपाः ।
तत्राश्रमपदं रम्यं ददर्श पितुरुत्तमम् ।। २८ ।।

जहाँ महातपस्वी व्यास अपने शिष्योंसे घिरे हुए बैठे थे, वहाँ शुकदेवजीने अपने पिताके उस रमणीय एवं उत्तम आश्रमको देखा ।। २८ ।।

आरणेयो विशुद्धात्मा नभसीव दिवाकरः ।
अथ व्यासः परिक्षिप्तं ज्वलन्तमिव पावकम् ।। २९ ।।
ददृशे सुतमायान्तं दिवाकरसमप्रभम् ।

उस समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले अरणीनन्दन शुकदेव आकाशमें स्थित सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे, इतनेहीमें व्यासजीने भी प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रको सब ओर अपनी प्रभा बिखेरते हुए आते देखा ।। २९½ ।।

असज्जमानं वृक्षेषु शैलेषु विषयेषु च ।
योगयुक्तं महात्मानं यथा बाणं गुणच्युतम् ।। ३० ।।

योगयुक्त महात्मा शुकदेव धनुषकी डोरीसे छूटे हुए बाणके समान तीव्र गतिसे आ रहे थे। वे वृक्षों और पर्वतोंमें कहीं भी अटक नहीं पाते थे ।। ३० ।।

सोऽभिगम्य पितुः पादावगृह्णादरणीसुतः ।
यथोपजोषं तैश्चापि समागच्छन्महामुनिः ।। ३१ ।।

निकट आकर अरणीपुत्र महामुनि शुकदेवने पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और शान्तभावसे उनके अन्य सब शिष्योंके साथ भी मिले ।। ३१ ।।

ततो निवेदयामास पित्रे सर्वमशेषतः ।
शुको जनकराजेन संवादं प्रीतमानसः ।। ३२ ।।

तदनन्तर प्रसन्नचित्त हुए शुकने राजा जनकके साथ जो वार्तालाप हुआ था, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त अपने पितासे कह सुनाया ।। ३२ ।।

एवमध्यापयन् शिष्यान् व्यासः पुत्रं च वीर्यवान् ।
उवास हिमवत्पृष्ठे पाराशर्यो महामुनिः ।। ३३ ।।

इस प्रकार शक्तिशाली महामुनि पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्यों और पुत्रको पढ़ाते हुए हिमालयके शिखरपर ही रहने लगे ।। ३३ ।।

ततः कदाचिच्छिष्यास्तं परिवार्यावतस्थिरे ।
वेदाध्ययनसम्पन्नाः शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ।। ३४ ।।
वेदेषु निष्ठां सम्प्राप्य साङ्गेष्वपि तपस्विनः ।
अथोचुस्ते तदा व्यासं शिष्याः प्राञ्जलयो गुरुम् ।। ३५ ।।

तदनन्तर किसी समय वेदाध्ययनसे सम्पन्न, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, सांगवेदमें पारंगत और तपस्वी शिष्यगण गुरुवर व्यासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये और उनसे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले ।। ३४-३५ ।।

शिष्या ऊचुः

महता तेजसा युक्ता यशसा चापि वर्धिताः ।
एकं त्विदानीमिच्छामो गुरुणाग्रहं कृतम् ।। ३६ ।।

शिष्योंने कहा—गुरुदेव! हम आपकी कृपासे महान् तेजस्वी हो गये हैं। हमारा यश भी चारों ओर बढ़ गया है। अब इस समय हम यह चाहते हैं कि आप एक बार और हमलोगोंपर अनुग्रह करें ।। ३६ ।।

इति तेषां वचः श्रुत्वा ब्रह्मर्षिस्तानुवाच ह ।
उच्यतामिति तद् वत्सा यद् वः कार्यं प्रियं मया ।। ३७ ।।

शिष्योंकी यह बात सुनकर ब्रह्मर्षि व्यासने उनसे कहा—‘बच्चो! कहो, क्या चाहते हो? मुझे तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करना है?’ ।। ३७ ।।

एतद् वाक्यं गुरोः श्रुत्वा शिष्यास्ते हृष्टमानसाः ।
पुनः प्राञ्जलयो भूत्वा प्रणम्य शिरसा गुरुम् ।। ३८ ।।
ऊचुस्ते सहिता राजन्निदं वचनमुत्तमम् ।
यदि प्रीत उपाध्यायो धन्याः स्मो मुनिसत्तम ।। ३९ ।।

गुरुदेवका यह वचन सुनकर उन शिष्योंका हृदय हर्षसे खिल उठा। राजन्! वे पुनः हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर गुरुजीको प्रणाम करके एक साथ यह उत्तम वचन बोले—'मुनिश्रेष्ठ! आप हमारे उपाध्याय हैं। यदि आप प्रसन्न हैं तो हम धन्य हो गये ।। ३८-३९ ।।

कांक्षामस्तु वयं सर्वे वरं दातुं महर्षिणा ।
षष्ठः शिष्यो न ते ख्यातिं गच्छेदत्र प्रसीद नः ।। ४० ।।

'हम सब लोग यह चाहते हैं कि महर्षि एक वरदान दें, वह यह कि आपका कोई छठा शिष्य प्रसिद्ध न हो। यहाँ हमलोगोंपर इतनी ही कृपा कीजिये ।। ४० ।।

चत्वारस्ते वयं शिष्या गुरुपुत्रश्च पञ्चमः ।
इह वेदाः प्रतिष्ठेरन्नेष नः कांक्षितो वरः ।। ४१ ।।

'हम चार आपके शिष्य हैं और पंचम शिष्य गुरुपुत्र शुकदेव हैं। इन पाँचोंमें ही आपके पढ़ाये हुए सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हों; यही हमारे लिये मनोवाञ्छित वर है, ।। ४१ ।।

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा व्यासो वेदार्थतत्त्ववित् ।
पराशरात्मजो धीमान् परलोकार्थचिन्तकः ।। ४२ ।।
उवाच शिष्यान् धर्मात्मा धर्म्यं नैःश्रेयसं वचः ।

शिष्योंकी यह बात सुनकर वेदार्थके तत्त्वज्ञ, पारलौकिक अर्थका चिन्तन करनेवाले, धर्मात्मा, पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीने अपने समस्त शिष्योंसे यह धर्मानुकूल कल्याणकारी वचन कहा— ।। ४२½ ।।

ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म शुश्रूषवे तथा ।। ४३ ।।
ब्रह्मलोके निवासं यो ध्रुवं समभिकाङ्क्षते ।

'शिष्यगण! जो ब्रह्मलोकमें अटल निवास चाहता हो, उसका कर्तव्य है कि वह पढ़नेकी इच्छासे आये हुए ब्राह्मणको सदा ही वेद पढ़ावे ।। ४३½ ।।

भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ।। ४४ ।।
नाशिष्ये सम्प्रदातव्यो नाव्रते नाकृतात्मनि ।

'तुमलोग बहुसंख्यक हो जाओ और इस वेदका विस्तार करो। जिसका मन वशमें न हो, जो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन न करता हो तथा जो शिष्यभावसे पढ़ने न आया हो, उसे वेदाध्ययन नहीं कराना चाहये ।। ४४½ ।।

एते शिष्यगुणाः सर्वे विज्ञातव्या यथार्थतः ।। ४५ ।।
नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन ।

'ये सभी शिष्यके गुण हैं। किसीको शिष्य बनानेसे पहले उसके इन गुणोंको यथार्थरूपसे परख लेना चाहिये। जिसके सदाचारकी परीक्षा न ली गयी हो, उसे किसी प्रकार विद्यादान नहीं देना चाहिये ।। ४५½ ।।

यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ।। ४६ ।।
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।

‘जैसे आगमें तपाने, काटने और कसौटीपर कसनेसे शुद्ध सोनेकी परख की जाती है, उसी प्रकार कुल और गुण आदिके द्वारा शिष्योंकी परीक्षा करनी चाहिये ।।

न नियोज्याश्च वः शिष्या अनियोगे महाभये ।। ४७ ।।

यथामति यथापाठं तथा विद्या फलिष्यति ।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।। ४८ ।।

‘तुमलोग अपने शिष्योंको किसी अनुचित या महान् भयदायक कार्यमें न लगाना। तुम्हारे पढ़ानेपर भी जिसकी जैसी बुद्धि होगी और जो पढ़नेमें जैसा परिश्रम करेगा, उसीके अनुसार उसकी विद्या सफल होगी। सब लोग दुर्गम संकटसे पार हों और सभी अपना कल्याण देखें ।। ४७-४८ ।।

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।

वेदस्याध्ययनं होदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम् ।। ४९ ।।

‘ब्राह्मणको आगे रखकर चारों वर्णोंको उपदेश देना चाहिये। यह वेदाध्ययन महान् कार्य माना गया है। इसे अवश्य करना चाहिये ।। ४९ ।।

स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।

यो निर्वदेत सम्मोहाद् ब्राह्मणं वेदपारगम् ।। ५० ।।

सोऽभिध्यानाद् ब्राह्मणस्य पराभूयादसंशयम् ।

‘स्वयम्भू ब्रह्माने यहाँ देवताओंकी स्तुतिके लिये वेदोंकी सृष्टि की है। जो मोहवश वेदके पारंगत ब्राह्मणकी निन्दा करता है, वह उसके अनिष्ट-चिन्तनके कारण निस्संदेह पराभवको प्राप्त होता है ।। ५०½ ।।

यश्चाधर्मेण विब्रूयाद् यश्चाधर्मेण मृच्छति ।। ५१ ।।

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ।

‘जो धार्मिक विधिका उल्लंघन करके प्रश्न करता है और जो अधर्मपूर्वक उसका उत्तर देता है, उन दोनोंमेंसे एककी मृत्यु हो जाती है अथवा एक दूसरेके द्वेषका पात्र बन जाता है ।। ५१½ ।।

एतद् वः सर्वमाख्यातं स्वाध्यायस्य विधिं प्रति ।

उपकुर्याच्च शिष्याणामेतच्च हृदि वो भवेत् ।। ५२ ।।

‘यह सब मैंने तुमलोगोंसे स्वाध्यायकी विधि बतायी है। यह तुम्हारे हृदयमें सदा स्मरण रहे; क्योंकि यह शिष्योंका उपकार कर सकती है’ ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२७ ।।

अष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शिष्योंके जानेके बाद व्यासजीके पास नारदजीका आगमन और व्यासजीको वेदपाठके लिये प्रेरित करना तथा व्यासजीका शुकदेवको अनध्यायका कारण बताते हुए 'प्रवह' आदि सात वायुओंका परिचय देना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा गुरोर्वाक्यं व्यासशिष्या महौजसः ।
अन्योन्यं हृष्टमनसः परिषस्वजिरे तदा ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अपने गुरु व्यासके इस उपदेशको सुनकर उनके महातेजस्वी शिष्य मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और आपसमें एक-दूसरेको हृदयसे लगाने लगे ।। १ ।।

उक्ताः स्मो यद् भगवता तदात्वायतिसंहितम् ।
तन्नो मनसि संरूढं करिष्यामस्तथा च तत् ।। २ ।।

फिर व्यासजीसे बोले—'भगवन्! आपने भविष्यमें हमारे हितका विचार करके जो बातें बतायी हैं, वे हमारे मनमें बैठ गयी हैं। हम अवश्य उनका पालन करेंगे' ।। २ ।।

अन्योन्यं संविभाष्यैवं सुप्रीतमनसः पुनः ।
विज्ञापयन्ति स्म गुरुं पुनर्वाक्यविशारदाः ।। ३ ।।

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके गुरु और शिष्य सभी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर प्रवचनकुशल शिष्योंने गुरुसे इस प्रकार निवेदन किया— ।। ३ ।।

शैलादस्मान्महीं गन्तुं कांक्षितं नो महामुने ।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ।। ४ ।।

'महामुने! अब हम इस पर्वतसे पृथ्वीपर जाना चाहते हैं। वेदोंके अनेक विभाग करके उनका प्रचार करना ही हमारी इस यात्राका उद्देश्य है। प्रभो! यदि आपको यह रुचिकर जान पड़े तो हमें जानेकी आज्ञा दें' ।। ४ ।।

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।। ५ ।।

शिष्योंकी यह बात सुनकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास यह धर्म और अर्थयुक्त हितकर वचन बोले ।। ५ ।।

क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते ।
अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ।। ६ ।।

'शिष्यो! यदि तुम्हें यही अच्छा लगता है तो तुम पृथ्वीपर या देवलोकमें जहाँ चाहो जा सकते हो; परंतु प्रमाद न करना; क्योंकि वेदमें बहुत सी प्ररोचनात्मक श्रुतियाँ हैं, जो व्याजसे (फलोंका लोभ दिखाकर) धर्मका प्रतिपादन करती हैं' ।। ६ ।।

तेऽनुज्ञातास्ततः सर्वे गुरुणा सत्यवादिना ।
जग्मुः प्रदक्षिणं कृत्वा व्यासं मूर्ध्नाभिवाद्य च ।। ७ ।।

सत्यवादी गुरुकी यह आज्ञा पाकर सभी शिष्योंने उनके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे व्यासजीकी प्रदक्षिणा करके वहाँसे चले गये' ।। ७ ।।

अवतीर्य महीं तेऽथ चातुर्होत्रमकल्पयन् ।
संयाजयन्तो विप्रांश्च राजन्यांश्च विशस्तथा ।। ८ ।।
पुज्यमाना द्विजैर्नित्यं मोदमाना गृहे रताः ।
याजनाध्यापनरताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ।। ९ ।।

पृथ्वीपर उतरकर उन्होंने चातुर्होत्र कर्म (अग्निहोत्रसे लेकर सोमयागतक) का प्रचार किया और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके यज्ञ कराते हुए वे द्विजातियोंसे पूजित हो बड़े आनन्दसे रहने लगे। यज्ञ कराने और वेदोंकी शिक्षा देनेमें ही वे तत्पर रहते थे। इन्हीं कर्मोंके कारण वे श्रीसम्पन्न और लोक-विख्यात हो गये थे ।। ८-९ ।।

अवतीर्णेषु शिष्येषु व्यासः पुत्रसहायवान् ।
तूष्णीं ध्यानपरो धीमानेकान्ते समुपाविशत् ।। १० ।।

शिष्योंके पर्वतसे नीचे उतर जानेपर व्यासजीके साथ उनके पुत्र शुकदेवके सिवा और कोई नहीं रह गया। वे बुद्धिमान् व्यासजी एकान्तमें ध्यानमग्न होकर चुपचाप बैठे थे ।। १० ।।

तं ददर्शाश्रमपदे नारदः सुमहातपाः ।
अथैनमब्रवीत् काले मधुराक्षरया गिरा ।। ११ ।।

उसी समय महातपस्वी नारदजी उस आश्रमपर पधारकर व्यासजीसे मिले और मधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले— ।। ११ ।।

भो भो ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते ।
एको ध्यानपरस्तूष्णीं किमास्से चिन्तयन्निव ।। १२ ।।

'हे ब्रह्मर्षिवासिष्ठ! आज आपके इस आश्रममें वेदमन्त्रोंकी ध्वनि क्यों नहीं हो रही है? आप अकेले ध्यानमग्न होकर चुपचाप क्यों बैठे हैं? जान पड़ता है, आप किसी चिन्तामें मग्न हैं ।। १२ ।।

ब्रह्मघोषैर्विरहितः पर्वतोऽयं न शोभते ।
रजसा तमसा चैव सोमः सोपप्लवो यथा ।। १३ ।।
न भ्राजते यथापूर्वं निषादानामिवालयः ।
देवर्षिगणजुष्टोऽपि वेदध्वनिनिराकृतः ।। १४ ।।

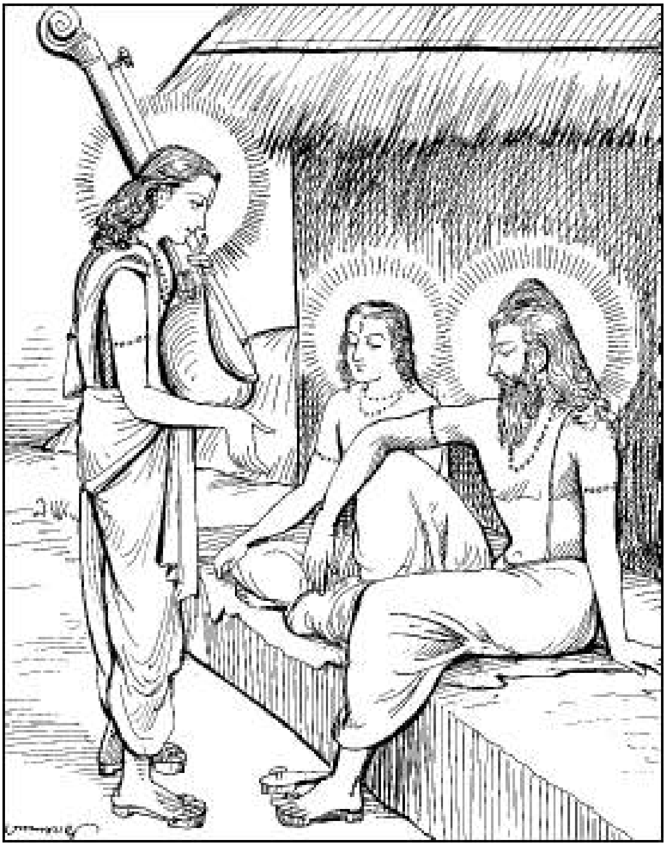

'वेदध्वनि न होनेके कारण इस पर्वतकी पहले-जैसी शोभा नहीं रही। रज और तमसे आच्छन्न हो यह राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान जान पड़ता है। देवर्षियोंसे सेवित होनेपर भी यह शैलशिखर ब्रह्मघोषके बिना भीलोंके घरकी तरह श्रीहीन प्रतीत होता है ।। १३-१४ ।।

ऋषयश्च हि देवाश्च गन्धर्वाश्च महौजसः ।
वियुक्ता ब्रह्मघोषेण न भ्राजन्ते यथा पुरा ।। १५ ।।

'यहाँके ऋषि, देवता और महाबली गन्धर्व भी ब्रह्मघोषसे विमुक्त हो अब पहलेकी भाँति शोभा नहीं पा रहे हैं' ।। १५ ।।

नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
महर्षे यत् त्वया प्रोक्तं वेदवादविचक्षण ।। १६ ।।
एतन्मनोऽनुकूलं मे भवानर्हति भाषितुम् ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वत्र च कुतूहली ।। १७ ।।

नारदजीकी बात सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—'वेदविद्याके विद्वान् महर्षे! आपने जो कुछ कहा है, यह मेरे मनके अनुकूल ही है। आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वत्रकी बातें जाननेके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले हैं ।। १६-१७ ।।

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं सर्वं तव मते स्थितम् ।

तदाज्ञापय विप्रर्षे ब्रूहि किं करवाणि ते ।। १८ ।।

'तीनों लोकोंमें जो बात होती है या हो चुकी है, वह सब आपकी जानकारीमें है। ब्रह्मर्षे! बताइये, आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? ।। १८ ।।

यन्मया समनुष्ठेयं ब्रह्मर्षे तदुदाहर ।
विमुक्तस्येह शिष्यैर्मे नातिहृष्टमिदं मनः ।। १९ ।।

'ब्रह्मर्षि नारद! इस समय मेरा जो कर्तव्य है, उसे भी बताइये। अपने प्यारे शिष्योंसे बिछुड़ जानेके कारण इस समय मेरा यह मन विशेष प्रसन्न नहीं है' ।। १९ ।।

नारद उवाच

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम् ।। २० ।।

नारदजीने कहा—व्यासजी! वेद पढ़कर उसका अभ्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययनका दूषण है। व्रतका पालन न करना ब्राह्मणका दूषण है। वाहीक देशके लोग पृथ्वीके दूषण हैं और नये-नये खेल-तमाशा देखनेकी लालसा स्त्रीके लिये दोषकी बात है ।।

अधीयतां भवान् वेदान् सार्धं पुत्रेण धीमता ।
विधुन्वन् ब्रह्मघोषेण रक्षोभयकृतं तमः ।। २१ ।।

आप अपने वेदोच्चारणकी ध्वनिसे राक्षसभयजनित अन्धकारका नाश करते हुए बुद्धिमान् पुत्र शुकदेवजीके साथ वेदोंका स्वाध्याय करते रहें ।। २१ ।।

भीष्म उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा व्यासः परमधर्मवित् ।
तथेत्युवाच संहृष्टो वेदाभ्यासदृढव्रतः ।। २२ ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! नारदजीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ व्यासजीने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और हर्षमें भरकर वे वेदाभ्यासरूपी व्रतका दृढ़तापूर्वक पालन करने लगे ।।

शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत् ।
स्वरेणोच्चैः स शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव ।। २३ ।।

उन्होंने अपने पुत्र शुकदेवके साथ शिक्षाके नियमानुसार उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको परिपूर्ण करते हुए-से वेदोंकी आवृत्ति आरम्भ कर दी ।। २३ ।।

तयोरभ्यसतोरेव नानाधर्मप्रवादिनोः ।
वातोऽतिमात्रं प्रववौ समुद्रानिलवेजितः ।। २४ ।।

नाना प्रकारके धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले वे पिता-पुत्र उक्त रूपसे वेदोंका अभ्यास कर ही रहे थे कि समुद्री हवासे प्रेरित होकर बड़े जोरकी आँधी चलने लगी ।। २४ ।।

ततोऽनध्याय इति तं व्यासः पुत्रमवारयत् ।

शुको वारितमात्रस्तु कौतूहलसमन्वितः ।। २५ ।।

तब अनध्याय-काल बताकर व्यासजीने अपने पुत्रको वेद पढ़नेसे उस समय रोक दिया। उनके मना करनेपर शुकदेवजीके मनमें इसका कारण जाननेके लिये प्रबल उत्कण्ठा हुई ।। २५ ।।

अपृच्छत् पितरं ब्रह्मन् कुतो वायुरभूदयम् ।
आख्यातुमर्हति भवान् वायोः सर्वं विचेष्टितम् ।। २६ ।।

उन्होंने अपने पितासे पूछा—'ब्रह्मन्! इस वायुकी उत्पत्ति किससे हुई है? आप वायुकी सारी चेष्टाओंका विस्तारपूर्वक वर्णन करें' ।। २६ ।।

शुकस्यैतद् वचः श्रुत्वा व्यासः परमविस्मितः ।
अनध्यायनिमित्तेऽस्मिन्निदं वचनमब्रवीत् ।। २७ ।।

शुकदेवजीका यह वचन सुनकर व्यासजी अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठे और अनध्यायके कारणपर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार बोले— ।। २७ ।।

दिव्यं ते चक्षुरुत्पन्नं स्वयं ते निर्मलं मनः ।
तमसा रजसा चापि त्यक्तः सत्त्वे व्यवस्थितः ।। २८ ।।

'बेटा! तुम्हें स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। तुम्हारा हृदय अत्यन्त निर्मल है। तुम रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित हो ।। २८ ।।

आदर्शे स्वामिव च्छायां पश्यस्यात्मानमात्मना ।
व्यस्यात्मनि स्वयं वेदान् बुद्ध्या समनुचिन्तय ।। २९ ।।

'जैसे लोग दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, उसी प्रकार तुम बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करते हो; अतः स्वयं ही वेदोंको अपने भीतर स्थापित करके बुद्धिद्वारा अनध्यायके कारणभूत वायुके विषयमें विचार करो ।। २९ ।।

देवयानचरो विष्णोः पितृयाणश्च तामसः ।
द्वावेतौ प्रेत्य पन्थानौ दिवं चाधश्च गच्छतः ।। ३० ।।

'मरकर ऊपरके लोकोंमें जानेवाले और नीचेके लोकोंमें जानेवाले मनुष्योंके लिये दो मार्ग हैं, एक तो देवयान जो कि विष्णुलोकका मार्ग है, अतः सात्त्विक है, दूसरा पितृयान जो कि तामस है ।। ३० ।।

पृथिव्यामन्तरिक्षे च यत्र संवान्ति वायवः ।
सप्तैते वायुमार्गा वै तान् निबोधानुपूर्वशः ।। ३१ ।।

'पृथ्वीपर या आकाशमें जहाँ भी हवा चलती है, उसके बहनेके लिये सात मार्ग हैं। तुम क्रमशः उनका वर्णन सुनो ।। ३१ ।।

तत्र देवगणाः साध्या महाभूता महाबलाः ।
तेषामप्यभवत् पुत्रः समानो नाम दुर्जयः ।। ३२ ।।

‘पृथ्वी और आकाशमें जो महाबली और महान् भूत-स्वरूप साध्य नामक देवगण अदृश्यभावसे रहते हैं, उनके दुर्जय पुत्रका नाम है समान ।। ३२ ।।

उदानस्तस्य पुत्रोऽभूद् व्यानस्तस्याभवत् सुतः ।
अपानश्च ततो ज्ञेयः प्राणश्चापि ततोऽपरः ।। ३३ ।।

‘समानका पुत्र है उदान, उदानका पुत्र है व्यान, उसके पुत्रका नाम अपान जानना चाहिये और अपानसे प्राणकी उत्पत्ति हुई है ।। ३३ ।।

अनपत्योऽभवत् प्राणो दुर्धर्षः शत्रुतापनः ।
पृथक् कर्माणि तेषां ते प्रवक्ष्यामि यथातथम् ।। ३४ ।।

‘प्राणके कोई संतान नहीं हुई। वह शत्रुओंको संताप देनेवाला और दुर्जय है। उन सबके कर्म पृथक्-पृथक् हैं, जिनका मैं तुमसे यथावत्‌रूपसे वर्णन करता हूँ ।। ३४ ।।

प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक् ।
प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते ।। ३५ ।।

‘वायुदेव प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् समस्त चेष्टाओंका सम्पादन करते हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंको अनुप्राणित (जीवित) रखते हैं, इसलिये ‘प्राण’ कहलाते हैं ।। ३५ ।।

प्रेरयत्यभ्रसंघातान् धूमजांश्चोष्मजांश्च यः ।
प्रथमः प्रथमे मार्गे प्रवहो नाम योऽनिलः ।। ३६ ।।

‘जो धूम तथा गर्मीसे उत्पन्न बादलों और ओलोंको इधरसे उधर ले जाता है, वह प्रथम मार्गमें प्रवाहित होनेवाला ‘प्रवह’ नामक प्रथम वायु है ।। ३६ ।।

अम्बरे स्नेहमभ्येत्य विद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः ।
आवहो नाम संवाति द्वितीयः श्वसनो नदन् ।। ३७ ।।

‘जो आकाशमें रसकी मात्राओं और बिजली आदिकी उत्पत्तिके लिये प्रकट होता है, वह महान् तेजसे सम्पन्न द्वितीय वायु ‘आवह’ नामसे प्रसिद्ध है। वह बड़ी भारी आवाजके साथ बहता है ।। ३७ ।।

उदयं ज्योतिषां शश्वत् सोमादीनां करोति यः ।
अन्तर्देहेषु चोदानं यं वदन्ति मनीषिणः ।। ३८ ।।
यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम् ।
उद्धृत्याददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः ।। ३९ ।।
योऽद्भिः संयोज्य जीमूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति ।
उद्वहो नाम बंहिष्ठस्तृतीयः स सदागतिः ।। ४० ।।

‘जो सदा सोम, सूर्य आदि ग्रहोंका उदय एवं उद्‌भव करता है, मनीषी पुरुष शरीरके भीतर जिसे ‘उदान’ कहते हैं, जो चारों समुद्रोंसे जलको ऊपर उठाकर जीमूत नामक मेघोंमें स्थापित करता है तथा जीमूत नामक मेघोंको जलसे संयुक्त करके उन्हें पर्जन्यके

हवाले कर देता है, वह महान् वायु 'उद्वह' कहलाता है, जो तृतीय मार्गपर चलनेके कारण तीसरा कहा गया है ।। ३८-४० ।।

समूह्यमाना बहुधा येन नीताः पृथग् घनाः ।
वर्षमोक्षकृतारम्भास्ते भवन्ति घनाघनाः ।। ४१ ।।
संहता येन चाविद्धा भवन्ति नदतां नदाः ।
रक्षणार्थाय सम्भूता मेघत्वमुपयान्ति च ।। ४२ ।।
योऽसौ वहति भूतानां विमानानि विहायसा ।
चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ।। ४३ ।।

'जिसके द्वारा इधर-उधर ले जाये गये अनेक प्रकारके महामेघ घटा बाँधकर जल बरसाना आरम्भ करते हैं, घटाके रूपमें घनीभूत होनेपर भी जिसकी प्रेरणासे सारे बादल फट जाते हैं, फिर वे वेणुनादके समान शब्द करनेके कारण 'नद' कहलाते हैं तथा प्राणियोंकी रक्षाके लिये पुनः जलका संग्रह करके घनीभूत हो जाते हैं, जो वायु देवताओंके आकाशमार्गसे जानेवाले विमानोंको स्वयं ही वहन करता है, वह पर्वतोंका मान मर्दन करनेवाला चतुर्थ वायु 'संवह' नामसे प्रसिद्ध है ।। ४१—४३ ।।

येन वेगवता रुग्णा रूक्षेण रुवता नगान् ।
वायुना सहिता मेघास्ते भवन्ति बलाहकाः ।। ४४ ।।
दारुणोत्पातसंचारो नभसः स्तनयित्नुमान् ।
पञ्चमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः ।। ४५ ।।

'जो रुक्षभावसे वेगपूर्वक महान् शब्दके साथ बहकर बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ देता और उखाड़ फेंकता है तथा जिसके द्वारा संगठित हुए प्रलयकालीन मेघ 'बलाहक' संज्ञा धारण करते हैं, जिस वायुका संचरण भयानक उत्पात लानेवाला होता है तथा जो आकाशसे अपने साथ मेघोंकी घटाएँ लिये चलता है, उस अत्यन्त वेगशाली पंचम वायुको 'विवह' नाम दिया गया है ।। ४४-४५ ।।

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या वहन्त्यापो विहायसा ।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ।। ४६ ।।
दूरात् प्रतिहतो यस्मिन्नेकरश्मिर्दिवाकरः ।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा ।। ४७ ।।
यस्मादाप्यायते सोमो निधिर्दिव्योऽमृतस्य च ।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ।। ४८ ।।

'जिस वायुके आधारपर आकाशमें दिव्य जल ऊपर-ही-ऊपर प्रवाहित होते हैं, जो आकाशगंगाके पवित्र जलको धारण करके स्थित है और जिसके द्वारा दूरसे ही प्रतिहत होकर सहस्रों किरणोंके उत्पत्तिस्थान सूर्यदेव, जिनसे यह पृथ्वी प्रकाशित होती है, एक ही

किरणसे युक्त जान पड़ते हैं तथा जिससे अमृतकी दिव्य निधि चन्द्रमाका भी पोषण होता है, वह विजयशीलोंमें श्रेष्ठ छठा वायुतत्त्व ‘परिवह’ नामसे प्रसिद्ध है ।। ४६—४८ ।।

सर्वप्राणभृतां प्राणान् योऽन्तकाले निरस्यति ।
यस्य वर्त्मानुवर्तेते मृत्युवैवस्वतावुभौ ।। ४९ ।।
सम्यगन्वीक्षतां बुद्ध्या शान्तयाध्यात्मनित्यया ।
ध्यानाभ्यासाभिरामाणां योऽमृतत्वाय कल्पते ।। ५० ।।
यं समासाद्य वेगेन दिशोऽन्तं प्रतिपेदिरे ।
दक्षस्य दशपुत्राणां सहस्राणि प्रजापतेः ।। ५१ ।।
येन स्पृष्टः पराभूतो यात्येव न निवर्तते ।
परावहो नाम परो वायुः स दुरतिक्रमः ।। ५२ ।।

‘जो वायु अन्तकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राणोंको शरीरसे निकालता है, जिसके इस प्राणनिष्कासनरूप मार्गका मृत्यु तथा वैवस्वत यम अनुगमनमात्र करते हैं, सदा अध्यात्मचिन्तनमें लगी हुई शान्त बुद्धिके द्वारा भलीभाँति अनुसंधान करनेवाले तथा ध्यानके अभ्यासमें ही सानन्द रत रहनेवाले पुरुषोंको जो अमृतत्व देनेमें समर्थ है, जिसमें स्थित होकर प्रजापति दक्षके दस हजार पुत्र सम्पूर्ण दिशाओंके अन्तमें पहुँच गये तथा जिससे स्पर्शित होकर विलीन हुआ प्राणी यहाँसे केवल जाता है वापस नहीं लौटता, उस सर्वश्रेष्ठ सप्तम वायुका नाम ‘परावह’ है। उसका अतिक्रमण करना सभीके लिये सर्वथा कठिन है ।। ४९—५२ ।।

एवमेते दितेः पुत्रा मारुताः परमाद्‌भुताः ।
अनारतं ते संवान्ति सर्वगाः सर्वधारिणः ।। ५३ ।।

‘इस प्रकार ये सात मरुद्‌गण दितिके अत्यन्त अद्‌भुत पुत्र हैं। इनकी सर्वत्र गति है। ये निरन्तर बहते और सबको धारण करते हैं ।। ५३ ।।

एतत् तु महदाश्चर्यं यदयं पर्वतोत्तमः ।
कम्पितः सहसा तेन वायुनातिप्रवायता ।। ५४ ।।

‘यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि अत्यन्त वेगसे बहते हुए उस वायुके द्वारा यह पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमालय भी सहसा काँप उठा है ।। ५४ ।।

विष्णोर्निःश्वासवातोऽयं यदा वेगसमीरितः ।
सहसोदीर्यते तात जगत् प्रव्यथते तदा ।। ५५ ।।

‘तात! यह भगवान् विष्णुका निःश्वास है। जब कभी सहसा वह निःश्वास वेगसे निकल पड़ता है, उस समय यह सारा जगत् व्यथित हो उठता है ।। ५५ ।।

तस्माद् ब्रह्मविदो वेदान् नाधीयन्तेऽतिवायति ।
वायोर्वायुभयं ह्युक्तं ब्रह्म तत्पीडितं भवेत् ।। ५६ ।।

‘इसलिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रचण्ड वायु (आँधी) चलनेपर वेदका पाठ नहीं करते हैं। वेद भी भगवान्‌का निःश्वास ही है। उस समय वेदपाठ करनेपर वायुको वायुसे भय प्राप्त होता है और उस वेदको भी पीड़ा होती है’ ।। ५६ ।।

एतावदुक्त्वा वचनं पराशरसुतः प्रभुः ।
उक्त्वा पुत्रमधीष्वेति व्योमगङ्गामगात् तदा ।। ५७ ।।

अनध्यायके विषयमें यह बात कहकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास अपने पुत्र शुकदेवसे बोले—‘अब तुम वेदपाठ करो।’ यों कहकर वे आकाशगंगाके तटपर चल गये ।। ५७ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अनध्यायनिमित्तकथनं नामाष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अनध्यायके कारणका कथन नामक तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२८ ।।

एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीको नारदजीका वैराग्य और ज्ञानका उपदेश

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत् ।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् वक्तुमीप्सितान् ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! व्यासजीके चले जानेके बाद उस सूने आश्रममें स्वाध्यायपरायण शुकदेवसे अपना इच्छित वेदोंका अर्थ कहनेके लिये देवर्षि नारदजी पधारे ।। १ ।।

देवर्षिं तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम् ।
अर्घ्यपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत् ।। २ ।।

देवर्षि नारदको उपस्थित देख शुकदेवने वेदोक्त विधिसे अर्घ्य आदि निवेदन करके उनका पूजन किया ।। २ ।।

नारदोथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर ।
केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत् ।। ३ ।।

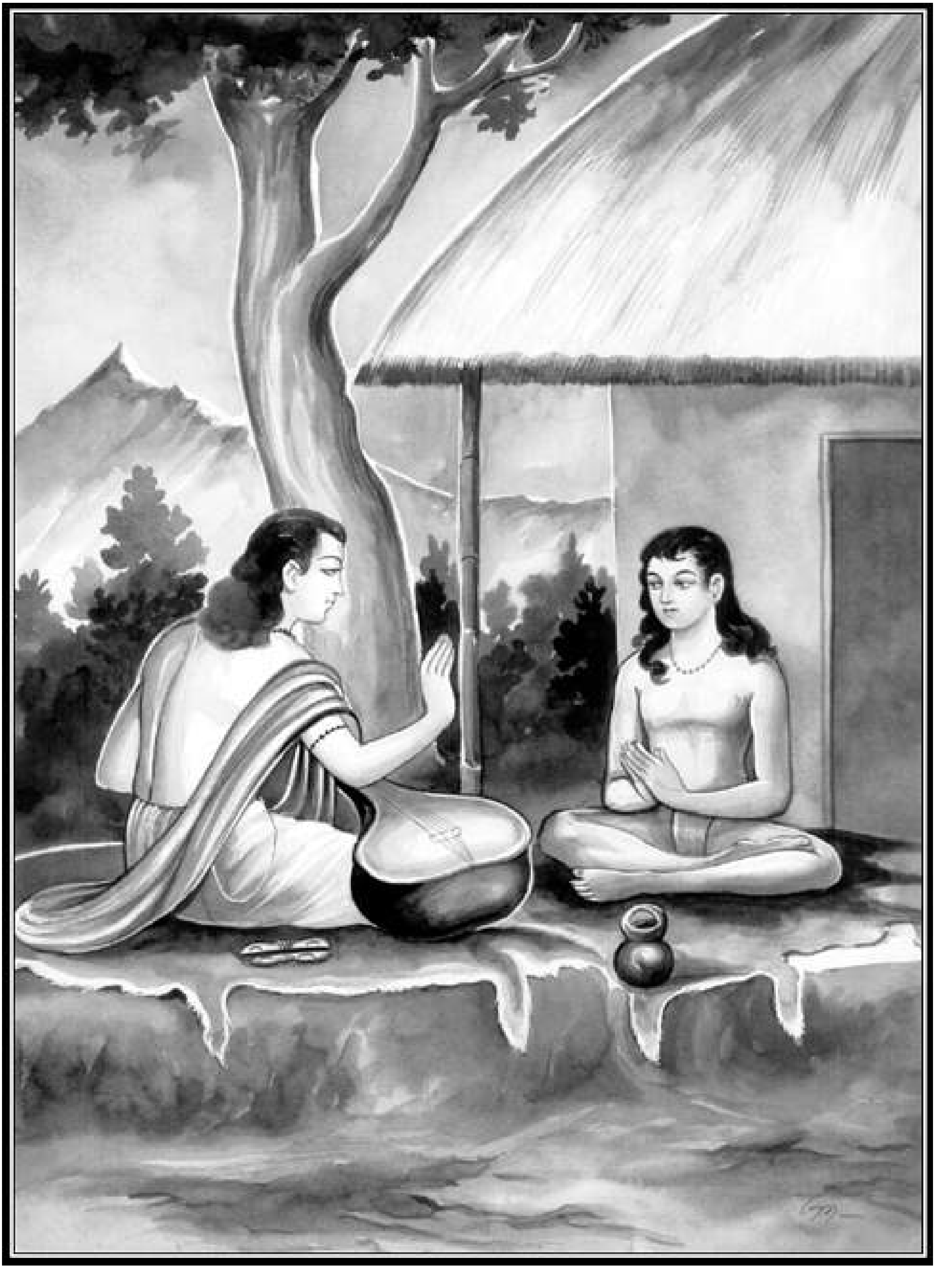

शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश

उस समय नारदजीने प्रसन्न होकर कहा—‘वत्स! तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हो। बताओ, तुम्हें किस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति कराऊँ?’ यह बात उन्होंने बड़े हर्षके साथ कही ।। ३ ।।

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत ।
अस्मिँल्लोके हितं यत् स्यात् तेन मां योक्तुमर्हसि ।। ४ ।।

भरतनन्दन! नारदजीकी यह बात सुनकर शुकदेवने कहा—‘इस लोकमें जो परम कल्याणका साधन हो, उसीका मुझे उपदेश देनेकी कृपा करें’ ।। ४ ।।

नारद उवाच

तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम् ।
सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत् ।। ५ ।।

नारदजीने कहा—वत्स! पूर्वकालकी बात है, पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया। उसके उत्तरमें भगवान् सनत्कुमारने यह उपदेश दिया ।। ५ ।।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ।। ६ ।।

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है। सत्यके समान कोई तप नहीं है। रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके सदृश कोई सुख नहीं है ।। ६ ।।

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ।। ७ ।।

पापकर्मोंसे दूर रहना, सदा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ पुरुषोंके-से बर्ताव और सदाचारका पालन करना—यही सर्वोत्तम श्रेय (कल्याण)-का साधन है ।। ७ ।।

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति ।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम् ।। ८ ।।

जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहको प्राप्त होता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप ही है, अतः दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता ।। ८ ।।

सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धनी ।
मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते ।। ९ ।।

विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि चंचल होती है। वह मोहजालको बढ़ानेवाली है, मोहजालसे बँधा हुआ पुरुष इस लोक तथा परलोकमें दुःख ही भोगता है ।। ९ ।।

सर्वोपायात् तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ ।। १० ।।

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उसे सभी उपायोंसे काम और क्रोधको दबाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष कल्याणका नाश करनेके लिये उद्यत रहते हैं ।। १० ।।

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।। ११ ।।

मनुष्यको चाहिये कि वह सदा तपको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचावे ।। ११ ।।

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद् विद्यते परम् ।। १२ ।।

क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्माका ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर तो कुछ है ही नहीं ।। १२ ।।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम ।। १३ ।।

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परंतु सत्यसे भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचारसे सत्य है ।। १३ ।।

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः ।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः ।। १४ ।।

जो कार्य आरम्भ करनेके सभी संकल्पोंको छोड़ चुका है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता तथा जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् है और वही पण्डित ।। १४ ।।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान् यश्चरत्यात्मवशैरिह ।
असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः ।। १५ ।।
आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च ।
स विमुक्तः परं श्रेयो नचिरेणाधितिष्ठति ।। १६ ।।

जो अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यहाँ अनासक्त भावसे विषयोंका अनुभव करता है, जिसका चित्त शान्त, निर्विकार और एकाग्र है तथा जो आत्मस्वरूप प्रतीत होनेवाले देह और इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ रहकर भी उनसे तद्रूप न हो अलग-सा ही रहता है, वह मुक्त है और उसे बहुत शीघ्र परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ।। १५-१६ ।।

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं सदा ।
यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विन्दते परम् ।। १७ ।।

मुने! जिसकी किसी प्राणीकी ओर दृष्टि नहीं जाती, जो किसीका स्पर्श तथा किसीसे बातचीत नहीं करता, वह परम कल्याणको प्राप्त होता है ।। १७ ।।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।। १८ ।।

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे तथा यह मनुष्य-जन्म पाकर किसीके साथ वैर न करे ।। १८ ।।

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशीस्त्वमचापलम् ।
एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः ।। १९ ।।

जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता तथा मनको वशमें रखनेवाला है, उसके लिये यही परम कल्याणका साधन बताया गया है कि वह किसी वस्तुका संग्रह न करे, संतोष रखे तथा कामना और चंचलताको त्याग दे ।। १९ ।।

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ।। २० ।।

तात शुकदेव! तुम संग्रहका त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ तथा उस पदको प्राप्त करो, जो इस लोक और परलोकमें भी निर्भय एवं सर्वथा शोकरहित है ।। २० ।।

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः ।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद् विमोक्ष्यसे ।। २१ ।।

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते, इसलिये प्रत्येक-मनुष्यको भोगासक्तिका त्याग करना चाहिये। सौम्य! भोगोंका त्याग कर देनेपर तुम दुःख और संतापसे छूट जाओगे ।। २१ ।।

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ।। २२ ।।

जो अजित (परमात्मा)-को जीतनेकी इच्छा रखता हो, उसे तपस्वी, जितेन्द्रिय, मननशील, संयतचित्त और विषयोंमें अनासक्त रहना चाहिये ।। २२ ।।

गुणसङ्गेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा ।
ब्राह्मणो नचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ।। २३ ।।

जो ब्राह्मण त्रिगुणात्मक विषयोंमें आसक्त न होकर सदा एकान्तवास करता है, वह शीघ्र ही सर्वोत्तम सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है ।। २३ ।।

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः ।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ।। २४ ।।

जो मुनि मैथुनमें सुख माननेवाले प्राणियोंके बीचमें रहकर भी अकेले रहनेमें ही आनन्द मानता है, उसे विज्ञानसे परितृप्त समझना चाहिये। जो ज्ञानसे तृप्त होता है, वह कभी शोक नहीं करता ।। २४ ।।

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम् ।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ।। २५ ।।

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है। वह शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें

जन्म लेता है ।। २५ ।।

तत्र मृत्युजरादुःखै सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुद्धयसे ।। २६ ।।

उन-उन योनियोंमें जीवको सदा जरा-मृत्यु और नाना प्रकारके दुःखोंसे संतप्त होना पड़ता है। इस प्रकार संसारमें जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी संतापकी आगमें पकाया जाता है—इस बातकी ओर तुम क्यों नहीं ध्यान देते? ।। २६ ।।

अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः ।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुद्धयसे ।। २७ ।।

तुमने अहितमें ही हित-बुद्धि कर ली है, जो अध्रुव (विनाशशील) वस्तुएँ हैं, उन्हींको 'ध्रुव' (अविनाशी) नाम दे रखा है और अनर्थमें ही तुम्हें अर्थका बोध हो रहा है। यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं आती है? ।। २७ ।।

संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः ।
कोषकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे ।। २८ ।।

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओंद्वारा अपने-आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न सम्बन्धके बन्धनोंद्वारा अपने-आपको बाँधते जा रहे हो तो भी यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है ।। २८ ।।

अलें परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः ।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ।। २९ ।।

यहाँ विभिन्न वस्तुओंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संग्रहसे महान् दोष प्रकट होता है। रेशमका कीड़ा अपने संग्रह-दोषके कारण ही बन्धनमें पड़ता है ।। २९ ।।

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ।। ३० ।।

स्त्री-पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त रहनेवाले प्राणी उसी प्रकार कष्ट पाते हैं, जैसे जंगलके बूढ़े हाथी तालाबके दलदलमें फँसकर दुःख उठाते हैं ।। ३० ।।

महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान् ।
स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जन्तून् सुदुःखितान् ।। ३१ ।।

जिस प्रकार महान् जालमें फँसकर पानीसे बाहर आये हुए मत्स्य तड़पते हैं, उसी प्रकार स्नेहजालसे आकृष्ट होकर अत्यन्त कष्ट उठाते हुए इन प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात करो ।। ३१ ।।

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं संचयाश्च ये ।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ।। ३२ ।।

संसारमें कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है। सब नाशवान् है। इसमें अपना क्या है, केवल पाप और पुण्य ।। ३२ ।।

यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते ।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ।। ३३ ।।

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँसे विवश होकर चल देना है, तब इस अनर्थमय जगत्‌में क्यों आसक्त हो रहे हो? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्षका साधन क्यों नहीं करते हो? ।। ३३ ।।

अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम् ।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ।। ३४ ।।

जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अन्धकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे? ।।

न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति ।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ।। ३५ ।।

जब तुम परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हारे पीछे कोई नहीं जायगा। केवल तुम्हारा किया हुआ पुण्य या पाप ही वहाँ जाते समय तुम्हारा अनुसरण करेगा ।। ३५ ।।

विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम् ।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्च विमुच्यते ।। ३६ ।।

अर्थ (परमात्मा) की प्राप्तिके लिये ही विद्या, कर्म, पवित्रता और अत्यन्त विस्तृत ज्ञानका सहारा लिया जाता है। जब कार्यकी सिद्धि (परमात्माकी प्राप्ति) हो जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है ।। ३६ ।।

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ।। ३७ ।।

गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्यकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति होती है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष उसे काटकर आगे—परमार्थके पथपर बढ़ जाते हैं; किंतु जो पापी हैं, वे उसे नहीं काट पाते ।। ३७ ।।

रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम् ।
गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम् ।। ३८ ।।
क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम् ।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत् ।। ३९ ।।

यह संसार एक नदीके समान है, जिसका उपादान या उद्‌गम सत्य है, रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है, गन्ध उस नदीकी कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौकाकी सहायतासे उसे पार किया जा सकता है।

क्षमा इसको खेनेवाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर करनेवाली रस्सी (लंगर) है। यदि त्यागरूपी अनुकूल पवनका सहारा मिले तो इस शीघ्रगामिनी नदीको पार किया जा सकता है। इसे पार करनेका अवश्य प्रयत्न करे ।। ३८-३९ ।।

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ।। ४० ।।

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्यको भी त्याग दो और उन दोनोंका त्याग करके जिसके द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो ।। ४० ।।

त्यज धर्ममसंकल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया ।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ।। ४१ ।।

संकल्पके त्यागद्वारा धर्मको और लिप्साके अभावद्वारा अधर्मको भी त्याग दो। फिर बुद्धिके द्वारा सत्य और असत्यका त्याग करके परमतत्त्वके निश्चयद्वारा बुद्धिको भी त्याग दो ।। ४१ ।।

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिं पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ।। ४२ ।।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ।। ४३ ।।

यह शरीर पंचभूतोंका घर है। इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। यह नस-नाड़ियोंसे बँधा हुआ, रक्त-मांससे लिपा हुआ और चमड़ेसे मढ़ा हुआ है। इसमें मल-मूत्र भरा है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है। यह बुढ़ापा और शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूलसे ढका हुआ और अनित्य है; अतः तुम्हें इसकी आसक्तिको त्याग देना चाहिये ।।

इदं विश्वं जगत् सर्वमजगच्चापि यद् भवेत् ।
महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाश्रयात् ।। ४४ ।।
इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ।। ४५ ।।

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पंचमहाभूतोंसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये महाभूतस्वरूप ही है। जो शरीरसे परे है, वह महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राएँ, पाँच प्राण तथा सत्त्व आदि गुण—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका नाम अव्यक्त है ।।

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः ।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ।। ४६ ।।

इनके साथ ही इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध एवं मन और अहंकार—इन सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तको मिलानेसे चौबीस तत्त्वोंका समूह होता है, उसे व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय कहा गया है ।।

एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते ।
त्रिवर्गं तु सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ।। ४७ ।।
य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ ।

इन सब तत्त्वोंसे जो संयुक्त है, उसे पुरुष कहते हैं। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, सुख-दुःख और जीवन-मरणके तत्त्वको ठीक-ठीक समझता है, वही उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको भी यथार्थरूपसे जानता है ।।

पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किञ्चन ।। ४८ ।।
इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ।। ४९ ।।

ज्ञानके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें परम्परासे जानना चाहिये। जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें व्यक्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके अगोचर होनेके कारण अनुमानसे जाने जाते हैं, उनको अव्यक्त कहते हैं ।। ४८-४९ ।।

इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते ।
लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति ।। ५० ।।

जिनकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, वे जीव उसी प्रकार तृप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षाकी धारासे प्यासा मनुष्य। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्राणियोंमें व्याप्त और प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखते हैं ।। ५० ।।

परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।। ५१ ।।
सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ।

उस परावरदर्शी ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानमूलक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो सम्पूर्ण भूतोंको सभी अवस्थाओंमें सदा देखा करता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके सहवासमें आकर भी कभी अशुभ कर्मोंसे युक्त नहीं होता अर्थात् अशुभ कर्म नहीं करता ।। ५१½ ।।

ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान् ।। ५२ ।।
लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते ।

जो ज्ञानके बलसे मोहजनित नाना प्रकारके क्लेशोंसे पार हो गया है, उसके लिये जगत्में बौद्धिक प्रकाशसे कोई भी लोक-व्यवहारका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता ।।

अनादिनिधनं जन्तुमात्मनि स्थितमव्ययम् ।। ५३ ।।
अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित् ।

मोक्षके उपायको जाननेवाले भगवान् नारायण कहते हैं कि आदि-अन्तसे रहित, अविनाशी, अकर्ता और निराकार जीवात्मा इस शरीरमें स्थित है ।। ५३½ ।।

यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ।। ५४ ।।
स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा ।

जो जीव अपने ही किये हुए विभिन्न कर्मोंके कारण सदा दुःखी रहता है, वही उस दुःखका निवारण करनेके लिये नाना प्रकारके प्राणियोंकी हत्या करता है ।।

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ।। ५५ ।।
तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।

तदनन्तर वह और भी बहुत-से नये-नये कर्म करता है और जैसे रोगी अपथ्य खाकर दुःख पाता है, उसी प्रकार उस कर्मसे वह अधिकाधिक कष्ट पाता रहता है ।। ५५½ ।।

अजस्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः ।। ५६ ।।
बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत् सदा ।

जो मोहसे अन्धा (विवेकशून्य) हो गया है, वह सदा ही दुःखद भोगोंमें ही सुखबुद्धि कर लेता है और मथानीकी भाँति कर्मोंसे बँधता एवं मथा जाता है ।। ५६½ ।।

ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह ।। ५७ ।।
परिभ्रमति संसारं चक्रवद् बहुवेदनः ।

फिर प्रारब्ध कर्मोंके उदय होनेपर वह बद्ध प्राणी कर्मके अनुसार जन्म पाकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगता हुआ उसमें चक्रकी भाँति घूमता रहता है ।। ५७½ ।।

स त्वं निवृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः ।। ५८ ।।
सर्ववित् सर्वजित् सिद्धो भव भावविवर्जितः ।

इसलिये तुम कर्मोंसे निवृत्त, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वविजयी, सिद्ध और सांसारिक भावनासे रहित हो जाओ ।। ५८½ ।।

संयमेन नवं बन्धं निवर्त्य तपसो बलात् ।
सम्प्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम् ।। ५९ ।।

बहुत-से ज्ञानी पुरुष संयम और तपस्याके बलसे नवीन बन्धनोंका उच्छेद करके अनन्त सुख देनेवाली अबाध सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ।। ५९ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३२९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२९ ।।

त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवको नारदजीका सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश

नारद उवाच

अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् ।
निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! शास्त्र शोकको दूर करनेवाला, शान्तिकारक और कल्याणमय है। जो अपने शोकका नाश करनेके लिये शास्त्रका श्रवण करता है, वह उत्तम बुद्धि पाकर सुखी हो जाता है ।। १ ।।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।। २ ।।

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, जो प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं ।। २ ।।

तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे ।
तिष्ठते चेद् वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम् ।। ३ ।।

इसलिये अपने अनिष्टका नाश करनेके लिये मेरा यह उपदेश सुनो—यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो सदाके लिये शोकका नाश हो जाता है ।। ३ ।।

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः ।। ४ ।।

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मन-ही-मन दुखी होते हैं ।। ४ ।।

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान् न चिन्तयेत् ।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ।। ५ ।।

जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी (नष्ट हो गयी), उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो आदरपूर्वक उसके गुणोंका चिन्तन करता है, उसका उसके प्रति आसक्तिका बन्धन नहीं छूटता है ।। ५ ।।

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते ।
अनिष्टवर्धितं पश्येत् तथा क्षिप्रं विरज्यते ।। ६ ।।

जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे, वहीं दोषदृष्टि करनी चाहिये और उसे अनिष्टको बढ़ानेवाला समझना चाहिये। ऐसा करनेपर उससे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है ।। ६ ।।

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ।। ७ ।।

जो बीती बातके लिये शोक करता है, उसे न तो अर्थकी प्राप्ति होती है न धर्मकी और न यशकी ही प्राप्ति होती है। वह उसके अभावका अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता ।। ७ ।।

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ।। ८ ।।

सभी प्राणियोंको उत्तम पदार्थोंसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं। किसी एकपर ही यह शोकका अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है ।। ८ ।।

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ।। ९ ।।

जो मनुष्य भूतकालमें मरे हुए किसी व्यक्तिके लिये अथवा नष्ट हुई किसी वस्तुके लिये निरन्तर शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसे दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ।। ९ ।।

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्धया दृष्ट्वा लोकेषु संततिम् ।
सम्यक् प्रपश्यतः सर्वे नाश्रुकर्मोपपद्यते ।। १० ।।

जो मनुष्य संसारमें अपनी संतानकी मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीर हैं। सभी वस्तुओंपर समीचीन भावसे दृष्टिपात या विचार करनेपर किसीका भी आँसू बहाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है ।। १० ।।

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते ।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ।। ११ ।।

यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित हो जाय और उसे दूर करनेके लिये कोई यत्न किया जा सके अथवा किया हुआ यत्न काम न दे सके तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।। ११ ।।

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ।। १२ ।।

दुःख दूर करनेकी सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करनेसे वह घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है ।। १२ ।।

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ।। १३ ।।

इसलिये मानसिक दुःखको बुद्धिके द्वारा विचारसे और शारीरिक कष्टको औषध-सेवनद्वारा नष्ट करना चाहिये। शास्त्रज्ञानके प्रभावसे ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख पड़नेपर बालकोंकी तरह रोना उचित नहीं है ।।

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ।। १४ ।।

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रियजनोंका सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ।। १४ ।।

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ।। १५ ।।

सारे देशपर आये हुए संकटके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक करना उचित नहीं है। यदि उस संकटको टालनेका कोई उपाय दिखलायी दे तो शोक छोड़कर उसे ही करना चाहिये ।। १५ ।।

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः ।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ।। १६ ।।

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। किंतु सभीको मोहवश विषयोंके प्रति अनुराग होता है और मृत्यु अप्रिय लगती है ।। १६ ।।

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः ।। १७ ।।

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंकी ही चिन्ता छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। विद्वान् पुरुष उसके लिये शोक नहीं करते ।। १७ ।।

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः ।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ।। १८ ।।

धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है। उसकी रक्षामें भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्टसे होती है, अतः धनको प्रत्येक अवस्थामें दुःखदायक समझकर उसके नष्ट होनेपर चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।। १८ ।।

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नसः ।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं संतोषं यान्ति पण्डिताः ।। १९ ।।

मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये हुए ही मर जाते है; किंतु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट रहते हैं (वे धनकी तृष्णामें नहीं पड़ते ।। १९ ।।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ।। २० ।।

संग्रहका अन्त है विनाश। ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना। संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण ।। २० ।।

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
तस्मात् संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डितः ।। २१ ।।

तृष्णाका कभी अन्त नहीं होता। संतोष ही परम सुख है, अतः पण्डितजन इस लोकमें संतोषको ही उत्तम धन समझते हैं ।। २१ ।।

निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति ।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ।। २२ ।।

आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पलभर भी ठहरती नहीं है। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसारकी किस वस्तुको नित्य समझा जाय ।। २२ ।।

भूतेषु भावं संचिन्त्य ये बुद्ध्वा मनसः परम् ।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ।। २३ ।।

जो मनुष्य सब प्राणियोंके भीतर मनसे परे परमात्माकी स्थिति जानकर उन्हींका चिन्तन करते हैं, वे संसार-यात्रा समाप्त होनेपर परमपदका साक्षात्कार करते हुए शोकके पार हो जाते हैं ।। २३ ।।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ।। २४ ।।

जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है ।। २४ ।।

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम् ।
अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ।। २५ ।।

तथापि सबको दुःखसे छूटनेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसनमें आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ।। २५ ।।

शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च ।
नोपभोगात् परं किंचिद् धनिनो वाधनस्य च ।। २६ ।।

धनी हो या निर्धन, सबको उपभोगकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और उत्तम गन्ध आदि विषयोंमें किंचित् सुखकी प्रतीति होती है, उपभोगके पश्चात् नहीं ।। २६ ।।

प्राक्सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम् ।
विप्रयोगात् तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः ।। २७ ।।

प्राणियोंके एक-दूसरेसे संयोग होनेके पहले कोई दुःख नहीं रहता। जब संयोगके बाद वियोग होता है तभी सबको दुःख हुआ करता है। अतः अपने स्वरूपमें स्थित विवेकी पुरुषको किसीके वियोगमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिये ।। २७ ।।

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ।। २८ ।।

मनुष्यको चाहिये कि वह धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रके द्वारा हाथ और पैरकी, मनके द्वारा आँख और कानकी तथा सद्विद्याके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे ।।

प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च ।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ।। २९ ।।

जो पूजनीय तथा अन्य मनुष्योंमें आसक्तिको हटाकर विनीतभावसे विचरण करता है, वही सुखी और वही विद्वान् है ।। २९ ।।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ।। ३० ।।

जो अध्यात्मविद्यामें अनुरक्त, कामनाशून्य तथा भोगासक्तिसे दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३० ।।

एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका शुकदेवको कर्मफल-प्राप्तिमें परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्यलोकमें जानेका निश्चय

नारद उवाच

सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते ।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम् ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! जब मनुष्य सुखको दुःख और दुःखको सुख समझने लगता है, उस समय बुद्धि, उत्तम नीति और पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता ।। १ ।।

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान् नावसीदति ।
जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ।। २ ।।

अतः मनुष्यको स्वभावतः ज्ञानप्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष कभी दुःखमें नहीं पड़ता। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है; अतः जरा, मृत्यु और रोगोंके कष्टसे उसका उद्धार करे ।। २ ।।

रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः ।
सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः ।। ३ ।।

शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुषोंके छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणोंके समान शरीरको पीड़ा देते हैं ।। ३ ।।

व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः ।
अवशस्य विनाशाय शरीरमपकृष्यते ।। ४ ।।

तृष्णासे व्यथित, दुखी एवं विवश होकर जीनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका शरीर विनाशकी ओर ही खिंचता चला जाता है ।। ४ ।।

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ।। ५ ।।

जैसे नदियोंका प्रवाह आगेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछेकी ओर नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्योंकी आयुका अपहरण करते हुए बारंबार आते और बीतते चले जाते हैं ।। ५ ।।

व्यत्ययो ह्ययमत्यन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।
जातान् मर्त्यान् जरयति निमेषान् नावतिष्ठते ।। ६ ।।

शुक्ल और कृष्ण—दोनों पक्षोंका निरन्तर होनेवाला यह परिवर्तन मनुष्योंको जराजीर्ण कर रहा है। यह कुछ क्षणके लिये भी विश्राम नहीं लेता है ।। ६ ।।

सुखदु:खानि भूतानामजरो जरयत्यसौ ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च ।। ७ ।।

सूर्य प्रतिदिन अस्त होते और फिर उदय होते हैं। वे स्वयं अजर होकर भी प्रतिदिन प्राणियोंके सुख और दु:खको जीर्ण करते रहते हैं ।। ७ ।।

अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान् ।
इष्टानिष्टान् मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः ।। ८ ।।

ये रात्रियाँ मनुष्योंके लिये कितनी ही अपूर्व तथा असम्भावित प्रिय-अप्रिय घटनाएँ लिये आती और चली जाती हैं ।। ८ ।।

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात् ।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ।। ९ ।।

यदि जीवके किये हुए कर्मोंका फल पराधीन न होता तो जो जिस वस्तुकी इच्छा करता, वह अपनी उसी कामनाको रुचिके अनुसार प्राप्त कर लेता ।। ९ ।।

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।
दृश्यन्ते निष्फलाः संतः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ।। १० ।।

बड़े-बड़े संयमी, बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे श्रान्त होकर असफल होते देखे जाते हैं ।।

अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः ।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः ।। ११ ।।

किंतु दूसरे मूर्ख, गुणहीन और अधम मनुष्य भी किसीका आशीर्वाद न मिलनेपर भी सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं ।। ११ ।।

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते ।। १२ ।।

कोई-कोई मनुष्य तो सदा प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता है और सब लोगोंको धोखा दिया करता है, तो भी वह सुख ही भोगते-भोगते बूढ़ा होता है ।। १२ ।।

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते ।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति ।। १३ ।।

कितने ही ऐसे हैं, जो कोई काम न करके चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर भी लक्ष्मी उनके पास अपने-आप पहुँच जाती है और कुछ लोग काम करके भी अपनी प्राप्य वस्तुको उपलब्ध नहीं कर पाते ।। १३ ।।

अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः ।
शुक्रमन्यत्र सम्भूतं पुनरन्यत्र गच्छति ।। १४ ।।

इसमें स्वभावतः पुरुषका ही अपराध (प्रारब्ध-दोष) समझो। वीर्य अन्यत्र उत्पन्न होता है और संतानोत्पादनके लिये अन्यत्र जाता है ।। १४ ।।

तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा ।
आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते ।। १५ ।।

कभी तो वह योनिमें पहुँचकर गर्भ धारण करानेमें समर्थ होता है और कभी नहीं होता तथा कभी-कभी आमके बौरके समान वह व्यर्थ ही झर जाता है ।। १५ ।।

केषाञ्चित् पुत्रकामानामनुसंतानमिच्छताम् ।
सिद्धौ प्रयतमानानां न चाण्डमुपजायते ।। १६ ।।

कुछ लोग पुत्रकी इच्छा रखते हैं और उस पुत्रके भी संतान चाहते हैं तथा इसकी सिद्धिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करते हैं, तो भी उनके एक अंडा भी उत्पन्न नहीं होता ।। १६ ।।

गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव ।
आयुष्मान् जायते पुत्रः कथं प्रेत इवाभवत् ।। १७ ।।

बहुत-से मनुष्य बच्चा पैदा होनेसे उसी तरह डरते हैं, जैसे क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पसे लोग भयभीत रहते हैं, तथापि उनके यहाँ दीर्घजीवी पुत्र उत्पन्न होता है और क्या मजाल है कि वह कभी किसी तरह रोग आदिसे मृतकतुल्य हो सके ।। १७ ।।

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।
दश मासान् परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ।। १८ ।।

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले दीन स्त्री-पुरुषोंद्वारा देवताओंकी पूजा और तपस्या करके दस मासतक गर्भ धारण किया जाता है तथापि उनके कुलांगार पुत्र उत्पन्न होते हैं ।।

अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसंचितान् ।
विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ।। १९ ।।

तथा बहुत-से ऐसे हैं, जो आमोद-प्रमोदमें ही जन्म धारण करके पिताके संचित किये हुए अपार धनधान्य एवं विपुल भोगोंके अधिकारी होते हैं ।। १९ ।।

अन्योन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे ।
उपद्रव इवाविष्टो योनिं गर्भः प्रपद्यते ।। २० ।।

पति-पत्नीकी पारस्परिक इच्छाके अनुसार मैथुनके लिये जब उनका समागम होता है, उस समय किसी उपद्रवके समान गर्भ योनिमें प्रवेश करता है ।। २० ।।

शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम् ।
प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविवेष्टितम् ।। २१ ।।

जिसका स्थूल शरीर क्षीण हो गया है तथा जो कफ और मांसमय शरीरसे घिरा हुआ है, उस देहधारी प्राणीको मृत्युके बाद शीघ्र ही दूसरे शरीर उपलब्ध हो जाते हैं ।।

निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम् ।

विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम् ।। २२ ।।

जैसे एक नौकाके भग्न होनेपर उसपर बैठे हुए लोगोंको उतारनेके लिये दूसरी नाव प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार एक शरीरसे मृत्युको प्राप्त होते हुए जीवको लक्ष्य करके मृत्युके बाद उसके कर्मफल-भोगके लिये दूसरा नाशवान् शरीर उपस्थित कर दिया जाता है ।। २२ ।।

सङ्गत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम् ।
केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि ।। २३ ।।

शुकदेव! पुरुष स्त्रीके साथ समागम करके उसके उदरमें जिस अचेतन शुक्रबिन्दुको स्थापित करता है, वही गर्भरूपमें परिणत होता है। फिर वह गर्भ किस यत्नसे यहाँ जीवित रहता है, क्या तुम कभी इसपर विचार करते हो? ।। २३ ।।

अन्नपानानि जीर्यन्ते यत्र भक्षाश्च भक्षिताः ।
तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते ।। २४ ।।

जहाँ खाये हुए अन्न और जल पच जाते हैं तथा सभी तरहके भक्ष्य पदार्थ जीर्ण हो जाते हैं, उसी पेटमें पड़ा हुआ गर्भ अन्नके समान क्यों नहीं पच जाता है ।।

गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियता गतिः ।
धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः ।। २५ ।।
स्रवन्ति ह्युदराद् गर्भा जायमानास्तथा परे ।
आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते ।। २६ ।।

गर्भमें मल और मूत्रके धारण करने या त्यागमें कोई स्वभावनियत गति है; किंतु कोई स्वाधीन कर्ता नहीं है। कुछ गर्भ माताके पेटसे गिर जाते हैं, कुछ जन्म लेते हैं और कितनोंकी ही जन्म लेनेके बाद मृत्यु हो जाती है ।। २५-२६ ।।

एतस्माद् योनिसम्बन्धाद् यो जीवन् परिमुच्यते ।
प्रजां च लभते काञ्चित् पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति ।। २७ ।।

इस योनि-सम्बन्धसे कोई सकुशल जीता हुआ बाहर निकल आता है, तब कोई संतानको प्राप्त होता है और पुनः परस्परके सम्बन्धमें संलग्न हो जाता है ।।

स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम् ।
प्राप्नुवन्ति ततः पञ्च न भवन्ति गतायुषः ।। २८ ।।

अनादिकालसे साथ उत्पन्न होनेवाले शरीरके साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस शरीरकी गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वृद्धत्व, जरा, प्राणरोध और नाश—ये दस दशाएँ होती हैं। इनमेंसे सातवीं और नवीं दशाको भी शरीरगत पाँचों भूत ही प्राप्त होते हैं, आत्मा नहीं। आयु समाप्त होनेपर शरीरकी नवीं दशामें पहुँचनेपर ये पाँच भूत नहीं रहते। अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हो जाते हैं ।। २८ ।।

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः ।

व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ।। २९ ।।

जैसे व्याध छोटे मृगोंको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जब नाना प्रकारके रोग मनुष्योंको मथ डालते हैं, तब उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं रह जाती, इसमें संशय नहीं है ।। २९ ।।

व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम् ।
वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ।। ३० ।।

रोगोंसे पीड़ित हुए मनुष्य वैद्योंको बहुत-सा धन देते हैं और वैद्यलोग रोग दूर करनेकी बहुत चेष्टा करते हैं, तो भी उन रोगियोंकी पीड़ा दूर नहीं कर पाते हैं ।।

ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः सम्भृतौषधाः ।
व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः ।। ३१ ।।

बहुत-सी ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्सामें कुशल चतुर वैद्य भी व्याधोंके मारे हुए मृगोंकी भाँति रोगोंके शिकार हो जाते हैं ।। ३१ ।।

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ।। ३२ ।।

वे तरह-तरहके काढ़े और नाना प्रकारके घी पीते रहते हैं, तो भी बड़े-बड़े हाथी जैसे वृक्षोंको झुका देते हैं, वैसे ही वृद्धावस्था उनकी कमर टेढ़ी कर देती है; यह देखा जाता है ।। ३२ ।।

के वा भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान् मृगपक्षिणः ।
श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते ।। ३३ ।।

इस पृथ्वीपर मृग, पक्षी, हिंसक पशु और दरिद्र मनुष्योंको जब रोग सताता है, तब कौन उनकी चिकित्सा करने जाते हैं? किंतु प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं है ।।

घोरानपि दुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः ।
आक्रम्याददते रोगाः पशून् पशुगणा इव ।। ३४ ।।

परन्तु बड़े-बड़े पशु जैसे छोटे पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें दबा देते हैं, उसी प्रकार प्रचण्ड तेजवाले, घोर एवं दुर्धर्ष राजाओंपर भी बहुत-से रोग आक्रमण करके उन्हें अपने वशमें कर लेते हैं ।। ३४ ।।

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।
स्रोतसा सहसाऽऽक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ।। ३५ ।।

इस प्रकार सब लोग भवसागरके प्रबल प्रवाहमें सहसा पड़कर इधर-उधर बहते हुए मोह और शोकमें डूब रहे हैं और आर्तनादतक नहीं कर पाते हैं ।। ३५ ।।

न धनेन न राज्येन नोग्रेण तपसा तथा ।
स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः ।। ३६ ।।

विधाताके द्वारा कर्मफल-भोगमें नियुक्त हुए देहधारी मनुष्य धन, राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लंघन नहीं कर सकते ।। ३६ ।।

न म्रियेरन् न जीर्येरन् सर्वे स्युःसर्वकामिनः ।
नाप्रियं प्रति पश्येयुरुत्थानस्य फले सति ।। ३७ ।।

यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो मनुष्य न तो बूढ़े होते और न मरते ही। सबकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता ।। ३७ ।।

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ।। ३८ ।।

सब लोग लोकोंके ऊपर-से-ऊपर स्थानमें जाना चाहते हैं और यथाशक्ति इसके लिये चेष्टा भी करते हैं; किंतु वैसा करनेमें समर्थ नहीं होते ।। ३८ ।।

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान् मद्यमदेन च ।
अप्रमत्ताः शठान् शूरा विक्रान्ताः पर्युपासते ।। ३९ ।।

प्रमादरहित पराक्रमी शूरवीर भी ऐश्वर्य तथा मदिराके मदसे उन्मत्त रहनेवाले शठ मनुष्योंकी सेवा करते हैं ।।

क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषाञ्चिदसमीक्षिताः ।
स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किंचिदधिगम्यते ।। ४० ।।

कितने ही लोगोंके क्लेश ध्यान दिये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं तथा दूसरोंको अपने ही धनमेंसे समयपर कुछ भी नहीं मिलता ।। ४० ।।

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ।
वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकागताः ।। ४१ ।।

कर्मोंके फलमें भी बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है। कुछ लोग पालकी ढोते हैं और दूसरे लोग उसी पालकीमें बैठकर चलते हैं ।। ४१ ।।

सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः ।
मनुष्याश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः ।। ४२ ।।

सभी मनुष्य धन और समृद्धि चाहते हैं; परंतु उनमेंसे थोड़े-से ही ऐसे लोग होते हैं, जो रथपर चढ़कर चलते हैं। कितने ही पुरुष स्त्रीरहित हैं और सैकड़ों मनुष्य कई स्त्रियोंवाले हैं ।। ४२ ।।

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः ।
इदमन्यत् पदं पश्य मात्र मोहं करिष्यसि ।। ४३ ।।

सभी प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें रम रहे हैं। मनुष्य उनमेंसे एक-एकका अनुभव करते हैं अर्थात् किसीको सुखका अनुभव होता है, किसीको दुःखका। यह जो ब्रह्म नामक वस्तु है, इसे सबसे भिन्न एवं विलक्षण समझो। इसके विषयमें तुम्हें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ।। ४३ ।।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ।। ४४ ।।

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करके जिससे त्याग करते हो, उस अहंकारको भी त्याग दो ।। ४४ ।।

एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम ।
येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकं दिवं गताः ।। ४५ ।।

मुनिश्रेष्ठ! यह मैंने तुमसे परम गूढ़ बात बतलायी है, जिससे देवतालोग मर्त्यलोक छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ।। ४५ ।।

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान् ।
संचिन्त्य मनसा धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत ।। ४६ ।।

नारदजीकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् और धीरचित्त शुकदेवजीने मन-ही-मन बहुत विचार किया; किंतु सहसा वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ।। ४६ ।।

पुत्रदारैर्महान् क्लेशो विद्याम्नाये महान् श्रमः ।
किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम् ।। ४७ ।।

वे सोचने लगे, स्त्री-पुत्रोंके झमेलेमें पड़नेसे महान् क्लेश होगा। विद्याभ्यासमें भी बहुत अधिक परिश्रम है। कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे सनातन पद प्राप्त हो जाय। उस साधनमें क्लेश तो थोड़ा हो, किन्तु अभ्युदय महान् हो ।। ४७ ।।

ततो मुहुर्तं संचिन्त्य निश्चितां गतिमात्मनः ।
परावरज्ञो धर्मस्य परां नैःश्रेयसीं गतिम् ।। ४८ ।।

तदनन्तर उन्होंने दो घड़ीतक अपनी निश्चित गतिके विषयमें विचार किया; फिर भूत और भविष्यके ज्ञाता शुकदेवजीको अपने धर्मकी कल्याणमयी परम गतिका निश्चय हो गया ।। ४८ ।।

कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम् ।
नावर्तेयं यथा भूयो योनिसंकरसागरे ।। ४९ ।।

फिर वे सोचने लगे, मैं सब प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर किस प्रकार उस उत्तम गतिको प्राप्त करूँ, जहाँसे फिर इस संसार-सागरमें आना न पड़े ।। ४९ ।।

परं भावं हि काङ्क्षामि यत्र नावर्तते पुनः ।
सर्वसङ्गान् परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम् ।। ५० ।।

जहाँ जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, मैं उसी परमभावको प्राप्त करना चाहता हूँ। सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग करके मैंने मनके द्वारा उत्तम गति प्राप्त करनेका निश्चय किया है ।। ५० ।।

तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति ।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः ।। ५१ ।।

अब मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ मेरे आत्माको शान्ति मिलेगी तथा जहाँ मैं अक्षय, अविनाशी और सनातनरूपसे स्थित रहूँगा ।। ५१ ।।

न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः ।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ।। ५२ ।।

परंतु योगके बिना उस परम गतिको नहीं प्राप्त किया जा सकता। बुद्धिमान्‌का कर्मोंके निकृष्ट बन्धनसे बँधा रहना उचित नहीं है ।। ५२ ।।

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम् ।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम् ।। ५३ ।।

अतः मैं योगका आश्रय ले इस देह-गेहका परित्याग करके वायुरूप हो तेजोराशिमय सूर्यमण्डलमें प्रवेश करूँगा ।। ५३ ।।

न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुरगणैर्यथा ।
कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति ।। ५४ ।।

देवतालोग चन्द्रमाका अमृत पीकर जिस प्रकार उसे क्षीण कर देते हैं, उस प्रकार सूर्यदेवका क्षय नहीं होता। धूममार्गसे चन्द्रमण्डलमें गया हुआ जीव कर्मभोग समाप्त होनेपर कम्पित हो फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ता है। इसी प्रकार नूतन कर्मफल भोगनेके लिये वह पुनः चन्द्रलोकमें जाता है (सारांश यह कि चन्द्रलोकमें जानेवालेको आवागमनसे छुटकारा नहीं मिलता है) ।। ५४ ।।

क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते ।
नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः ।। ५५ ।।

इसके सिवा चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता रहता है। उसकी ह्रास-वृद्धिका क्रम कभी टूटता नहीं है। इन सब बातोंको जानकर मुझे चन्द्रलोकमें जाने या ह्रास-वृद्धिके चक्करमें पड़नेकी इच्छा नहीं होती है ।। ५५ ।।

रविस्तु संतापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः ।
सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमण्डलः ।। ५६ ।।

सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समस्त जगत्‌को संतप्त करते हैं। वे सब जगहसे तेजको स्वयं ग्रहण करते हैं (उनके तेजका कभी ह्रास नहीं होता); इसलिये उनका मण्डल सदा अक्षय बना रहता है ।। ५६ ।।

अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम् ।
अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशङ्केनान्तरात्मना ।। ५७ ।।

अतः उद्दीप्त तेजवाले आदित्यमण्डलमें जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। इसमें मैं निर्भीकचित्त होकर निवास करूँगा। किसीके लिये भी मेरा पराभव करना कठिन होगा ।। ५७ ।।

सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम् ।

ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोऽतिदुःसहम् ।। ५८ ।।

इस शरीरको सूर्यलोकमें छोड़कर मैं ऋषियोंके साथ सूर्यदेवके अत्यन्त दुःसह तेजमें प्रवेश कर जाऊँगा ।।

आपृच्छामि नगान् नागान् गिरिमुर्वीं दिशो दिवम् ।
देवदानवगन्धर्वान् पिशाचोरगराक्षसान् ।। ५९ ।।

इसके लिये मैं नग-नाग, पर्वत, पृथ्वी, दिशा, द्युलोक, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंसे आज्ञा माँगता हूँ ।। ५९ ।।

लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः ।
पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवाः सहर्षिभिः ।। ६० ।।

आज मैं निःसन्देह जगत्‌के सम्पूर्ण भूतोंमें प्रवेश करूँगा। समस्त देवता और ऋषि मेरी योगशक्तिका प्रभाव देखें ।। ६० ।।

अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम् ।
तस्मादनुज्ञां सम्प्राप्य जगाम पितरं प्रति ।। ६१ ।।

ऐसा निश्चय करके शुकदेवजीने विश्वविख्यात देवर्षि नारदजीसे आज्ञा माँगी। उनसे आज्ञा लेकर वे अपने पिता व्यासजीके पास गये ।। ६१ ।।

सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ।
शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान् मुनिम् ।। ६२ ।।

वहाँ अपने पिता महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके शुकदेवजीने उनकी प्रदक्षिणा की और उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ।। ६२ ।।

श्रुत्वा चर्षिस्तद् वचनं शुकस्य
प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम् ।
भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य
यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे ।। ६३ ।।

शुकदेवकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महात्मा व्यासने उनसे कहा—'बेटा! बेटा! आज यहीं रहो, जिससे तुम्हें जी-भर निहारकर अपने नेत्रोंको तृप्त कर लूँ' ।। ६३ ।।

निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः ।
मोक्षमेवानुसंचिन्त्य गमनाय मनो दधे ।। ६४ ।।

परंतु शुकदेवजी स्नेहका बन्धन तोड़कर निरपेक्ष हो गये थे। तत्त्वके विषयमें उन्हें कोई संशय नहीं रह गया था; अतः बारंबार मोक्षका ही चिन्तन करते हुए उन्होंने वहाँसे जानेका ही विचार किया ।। ६४ ।।

पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः ।
कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसंघनिषेवितम् ।। ६५ ।।

पिताको वहीं छोड़कर मुनिश्रेष्ठ शुकदेव सिद्ध समुदायसे सेवित विशाल कैलासशिखरपर चले गये ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिगमने एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका प्रस्थानविषयक तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३१ ।।

द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिका वर्णन

भीष्म उवाच

गिरिशृङ्गं समारुह्य सुतो व्यासस्य भारत ।
समे देशे विविक्ते स निःशलाक उपाविशत् ।। १ ।।
धारयामास चात्मानं यथाशास्त्रं यथाविधि ।
पादप्रभृतिगात्रेषु क्रमेण क्रमयोगवित् ।। २ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! कैलास-शिखरपर आरूढ़ हो व्यासपुत्र शुकदेव एकान्तमें तृणरहित समतल भूमिपर बैठ गये और शास्त्रोक्त विधिसे पैरसे लेकर सिरतक सम्पूर्ण अंगोंमें क्रमशः आत्माकी धारणा करने लगे। वे क्रमयोगके पूर्ण ज्ञाता थे ।। १-२ ।।

ततः स प्राङ्मुखो विद्वानादित्ये नचिरोदिते ।
पाणिपादं समादाय विनीतवदुपाविशत् ।। ३ ।।
न तत्र पक्षिसंघातो न शब्दो नातिदर्शनम् ।
यत्र वैयासकिर्धीमान् योक्तुं समुपचक्रमे ।। ४ ।।

थोड़ी ही देरमें जब सूर्योदय हुआ, तब ज्ञानी शुकदेव हाथ-पैर समेटकर विनीतभावसे पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठे और योगमें प्रवृत्त हो गये। उस समय बुद्धिमान् व्यास-नन्दन जहाँ योगयुक्त हो रहे थे, वहाँ न तो पक्षियोंका समुदाय था, न कोई शब्द सुनायी पड़ता था और न दृष्टिको आकृष्ट करनेवाला कोई दृश्य ही उपस्थित था ।। ३-४ ।।

स ददर्श तदाऽऽत्मानं सर्वसंगविनिःसृतम् ।
प्रजहास ततो हासं शुकः सम्प्रेक्ष्य तत्परम् ।। ५ ।।

उस समय उन्होंने सब प्रकारके संगोंसे रहित आत्माका दर्शन किया। उस परमतत्त्वका साक्षात्कार करके शुकदेवजी जोर-जोरसे हँसने लगे ।। ५ ।।

स पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये ।
महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्यक्रामद् विहायसम् ।। ६ ।।

फिर मोक्षमार्गकी उपलब्धिके लिये योगका आश्रय ले महान् योगेश्वर होकर वे आकाशमें उड़नेके लिये तैयार हो गये ।। ६ ।।

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा देवर्षिं नारदं ततः ।
निवेदयामास च तं स्वं योगं परमर्षये ।। ७ ।।

तदनन्तर देवर्षि नारदके पास जा उनकी प्रदक्षिणा की और उन परम ऋषिसे अपने योगके सम्बन्धमें इस प्रकार निवेदन किया ।। ७ ।।

शुक उवाच

दृष्टो मार्गः प्रवृत्तोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु तपोधन ।
त्वत्प्रसादाद् गमिष्यामि गतिमिष्टां महाद्युते ।। ८ ।।

शुकदेव बोले—महातेजस्वी तपोधन! आपका कल्याण हो। अब मुझे मोक्षमार्गका दर्शन हो गया। मैं वहाँ जानेको तैयार हूँ। आपकी कृपासे मैं अभीष्ट गति प्राप्त करूँगा ।। ८ ।।

नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायनात्मजः ।
अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाकाशमाविशत् ।। ९ ।।
कैलासपृष्ठादुत्पत्य स पपात दिवं तदा ।
अन्तरिक्षचरः श्रीमान् वायुभूतः सुनिश्चितः ।। १० ।।

नारदजीकी आज्ञा पाकर व्यासकुमार शुकदेवजी उन्हें प्रणाम करके पुनः योगमें स्थित हो आकाशमें प्रविष्ट हुए। कैलासशिखरसे उछलकर वे तत्काल आकाशमें जा पहुँचे और सुनिश्चित ज्ञान पाकर वायुका रूप धारण करके श्रीमान् शुकदेव अन्तरिक्षमें विचरने लगे ।। ९-१० ।।

तमुद्यन्तं द्विजश्रेष्ठं वैनतेयसमद्युतिम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि मनोमारुतरंहसम् ।। ११ ।।

उस समय समस्त प्राणियोंने ऊपर जाते हुए द्विजश्रेष्ठ शुकदेवको विनतानन्दन गरुड़के समान कान्तिमान् तथा मन और वायुके समान वेगशाली देखा ।। ११ ।।

व्यवसायेन लोकांस्त्रीन् सर्वान् सोऽथ विचिन्तयन् ।
आस्थितो दीर्घमध्वानं पावकार्कसमप्रभः ।। १२ ।।

वे निश्चयात्मक बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको आत्मभावसे देखते हुए बहुत दूरतक आगे बढ़ गये। उस समय उनका तेज सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था ।। १२ ।।

तमेकमनसं यान्तमव्यग्रमकुतोभयम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि जङ्गमानि चराणि च ।। १३ ।।
यथाशक्ति यथान्यायं पूजां वै चक्रिरे तदा ।
पुष्पवर्षैश्च दिव्यैस्तमवचक्रुर्दिवौकसः ।। १४ ।।

उन्हें निर्भय होकर शान्त और एकाग्रचित्तसे ऊपर जाते समय समस्त चराचर प्राणियोंने देखा और अपनी शक्ति तथा रीतिके अनुसार उनका यथोचित पूजन किया। देवताओंने उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा की ।। १३-१४ ।।

तं दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
ऋषयश्चैव संसिद्धाः परं विस्मयमागताः ।। १५ ।।

उन्हें इस प्रकार जाते देख समस्त गन्धर्व, अप्सराओंके समुदाय तथा सिद्ध ऋषि-मुनि महान् आश्चर्यमें पड़ गये ।।

अन्तरिक्षगतः कोऽयं तपसा सिद्धिमागतः ।
अधःकायोर्ध्ववक्त्रश्च नेत्रैः समभिरज्यते ।। १६ ।।

और आपसमें कहने लगे—'तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हुआ यह कौन महात्मा आकाशमार्गसे जा रहा है, जिसका मुख-मण्डल ऊपरकी ओर और शरीरका निचला भाग नीचेकी ओर ही है? हमारी आँखें बरबस इसकी ओर खिंच जाती हैं' ।। १६ ।।

ततः परमधर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
भास्करं समुदीक्षन् स प्राङ्मुखो वाग्यतोऽगमत् ।। १७ ।।

तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध परम धर्मात्मा शुकदेवजी पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके सूर्यको देखते हुए मौनभावसे आगे बढ़ रहे थे ।। १७ ।।

शब्देनाकाशमखिलं पूरयन्निव सर्वशः ।
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा सर्वाप्सरोगणाः ।। १८ ।।
सम्भ्रान्तमनसो राजन्नासन् परमविस्मिताः ।

वे अपने शब्दसे सम्पूर्ण आकाशको पूर्ण-सा कर रहे थे। राजन्! उन्हें सहसा आते देख सम्पूर्ण अप्सराएँ मन ही-मन घबरा उठीं और अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गयीं ।। १८१/२ ।।

पञ्चचूडाप्रभृतयो भृशमुत्फुल्ललोचनाः ।। १९ ।।
दैवतं कतमं ह्येतदुत्तमां गतिमास्थितम् ।
सुनिश्चितमिहायाति विमुक्तमिव निःस्पृहम् ।। २० ।।

पञ्चचूडा आदि अप्सराओंके नेत्र विस्मयसे अत्यन्त खिल उठे थे। वे परस्पर कहने लगीं कि उत्तम गतिका आश्रय लेकर यह कौन-सा देवता यहाँ आ रहा है? इसका निश्चय अत्यन्त दृढ़ है। यह सब प्रकारके बन्धनों तथा संशयोंसे मुक्त-सा हो गया है और इसके भीतर किसी वस्तुकी कामना नहीं रह गयी है ।।

ततः समभिचक्राम मलयं नाम पर्वतम् ।
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च यं नित्यमुपसेवतः ।। २१ ।।

कुछ ही देरमें वे मलय नामक पर्वतपर जा पहुँचे, जहाँ उर्वशी और पूर्वचित्ति—ये दो अप्सराएँ सदा निवास करती हैं ।। २१ ।।

तस्य ब्रह्मर्षिपुत्रस्य विस्मयं ययतुः परम् ।
अहो बुद्धिसमाधानं वेदाभ्यासरते द्विजे ।। २२ ।।
अचिरेणैव कालेन नभश्चरति चन्द्रवत् ।
पितृशुश्रूषया बुद्धिं सम्प्राप्तोऽयमनुत्तमाम् ।। २३ ।।

ब्रह्मर्षि व्यासजीके पुत्रकी यह उत्तम गति देख उन दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे आपसमें कहने लगीं, 'अहो! इस वेदाभ्यासपरायण ब्राह्मणकी बुद्धिमें कितनी अद्भुत

एकाग्रता है? पिताकी सेवासे थोड़े ही समयमें उत्तम बुद्धि पाकर यह चन्द्रमाके समान आकाशमें विचर रहा है ।। २२-२३ ।।

पितृभक्तो दृढतपाः पितुः सुदयितः सुतः ।
अनन्यमनसा तेन कथं पित्रा विसर्जितः ।। २४ ।।

'यह बड़ा ही तपस्वी और पितृभक्त था और अपने पिताका बहुत ही प्यारा बेटा था। उनका मन सदा इसीमें लगा रहता था; फिर भी उन्होंने इसे जानेकी आज्ञा कैसे दे दी?' ।। २४ ।।

उर्वश्या वचनं श्रुत्वा शुकः परमधर्मवित् ।
उदैक्षत दिशः सर्वा वचने गतमानसः ।। २५ ।।

उर्वशीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखा। उस समय उनका चित्त उसकी बातोंकी ओर चला गया था ।। २५ ।।

सोऽन्तरिक्षं महीं चैव सशैलवनकाननाम् ।
विलोकयामास तदा सरांसि सरितस्तथा ।। २६ ।।

आकाश, पर्वत, वन और काननोंसहित पृथ्वी एवं सरोवरों और सरिताओंकी ओर भी उन्होंने दृष्टि डाली ।। २६ ।।

ततो द्वैपायनसुतं बहुमानात् समन्ततः ।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा निरीक्षन्ते स्म देवताः ।। २७ ।।

उस समय इन सबकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे बड़े आदरके साथ द्वैपायनकुमार शुकदेवजीको देखा। वे सब-की-सब अंजलि बाँधे खड़ी थीं ।। २७ ।।

अब्रवीत् तास्तदा वाक्यं शुकः परमधर्मवित् ।
पिता यद्यनुगच्छेन्मां क्रोशमानः शुकेति वै ।। २८ ।।
ततः प्रतिवचो देयं सर्वैरेव समाहितैः ।
एतन्मे स्नेहतः सर्वे वचनं कर्तुमर्हथ ।। २९ ।।

तब परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने उन सबसे कहा—'देवियो! यदि मेरे पिताजी मेरा नाम लेकर पुकारते हुए इधर आ निकलें तो आप सब लोग सावधान होकर मेरी ओरसे उन्हें उत्तर देना। आप लोगोंका मुझपर बड़ा स्नेह है; इसलिये आप सब मेरी इतनी-सी बात मान लेना' ।। २८-२९ ।।

शुकस्य वचनं श्रुत्वा दिशः सर्वाः सकाननाः ।
समुद्राः सरितः शैलाः प्रत्यूचुस्तं समन्ततः ।। ३० ।।

शुकदेवजीकी यह बात सुनकर काननोंसहित सम्पूर्ण दिशाओं, समुद्रों, नदियों, पर्वतों और पर्वतोंकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे यह उत्तर दिया— ।। ३० ।।

यथाऽऽज्ञापयसे विप्र बाढमेवं भविष्यति ।
ऋषेर्व्याहरतो वाक्यं प्रतिवक्ष्यामहे वयम् ।। ३१ ।।

‘ब्रह्मन्! आप जैसी आज्ञा देते हैं, निश्चय ही वैसा ही होगा। जब महर्षि व्यास आपको पुकारेंगे, तब हम सब लोग उन्हें उत्तर देंगी’ ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३२ ।।

त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी परमपद-प्राप्ति तथा पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजीको महादेवजीका आश्वासन देना

भीष्म उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्मर्षिः सुमहातपाः ।
प्रातिष्ठत शुकः सिद्धिं हित्वा दोषांश्चतुर्विधान् ।। १ ।।
तमो ह्यष्टविधं हित्वा जहौ पञ्चविधं रजः ।
ततः सत्त्वं जहौ धीमांस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। २ ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह वचन कहकर महातपस्वी शुकदेवजी सिद्धि पानेके उद्देश्यसे आगे बढ़ गये। बुद्धिमान् शुकने चार प्रकारके दोषोंका, आठ प्रकारके तमोगुणका तथा पाँच प्रकारके रजोगुणका परित्याग करके सत्त्वगुणको भी त्याग दिया*; यह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। १-२ ।।

ततस्तस्मिन् पदे नित्ये निर्गुणे लिङ्गवर्जिते ।
ब्रह्मणि प्रत्यतिष्ठत् स विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।। ३ ।।

तत्पश्चात् वे नित्य निर्गुण एवं लिंगरहित ब्रह्मपदमें स्थित हो गये। उस समय उनका तेज धूमहीन अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहा था ।। ३ ।।

उल्कापाता दिशां दाहो भूमिकम्पस्तथैव च ।
प्रादुर्भूतः क्षणे तस्मिंस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। ४ ।।

उसी क्षण उल्काएँ टूटकर गिरने लगीं। दिशाओंमें दाह होने लगा और धरती डोलने लगी। यह सब आश्चर्यकी-सी घटना घटित हुई ।। ४ ।।

द्रुमाः शाखाश्च मुमुचुः शिखराणि च पर्वताः ।
निर्घातशब्दैश्च गिरिर्हिमवान् दीर्यतीव ह ।। ५ ।।

वृक्षोंने अपनी शाखाएँ अपने-आप तोड़कर गिरा दीं। पर्वतोंने अपने शिखर भंग कर दिये। वज्रपातके शब्दोंसे गिरिराज हिमालय विदीर्ण-सा होता जान पड़ता था ।। ५ ।।

न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ।
ह्रदाश्च सरितश्चैव चुक्षुभुः सागरास्तथा ।। ६ ।।

सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी। आग प्रज्वलित नहीं होती थी। सरोवर, सरिता और समुद्र सभी क्षुब्ध हो उठे ।।

ववर्ष वासवस्तोयं रसवच्च सुगन्धि च ।
ववौ समीरणश्चापि दिव्यगन्धवहः शुचिः ।। ७ ।।

इन्द्रने सरस और सुगन्धित जलकी वर्षा की तथा दिव्य गन्ध फैलाती हुई परम पवित्र वायु चलने लगी ।।

स शृङ्गे प्रथमे दिव्ये हिमवन्मेरुसम्भवे ।
संश्लिष्टे श्वेतपीते द्वे रुक्मरूप्यमये शुभे ।। ८ ।।
शतयोजनविस्तारे तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
उदीचीं दिशमास्थाय रुचिरे संददर्श ह ।। ९ ।।

भरतनन्दन! आगे बढ़नेपर श्रीशुकदेवजीने पर्वतके दो दिव्य एवं सुन्दर शिखर देखे, जो एक-दूसरेसे सटे हुए थे। उनमेंसे एक हिमालयका शिखर था और दूसरा मेरुपर्वतका। हिमालयका शिखर रजतमय होनेके कारण श्वेत दिखायी देता था और सुमेरुका स्वर्णमय शृंग पीले रंगका था। इन दोनोंकी लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई सौ-सौ योजनकी थी। उत्तरदिशाकी ओर जाते समय ये दोनों सुरम्य शिखर शुकदेवजीकी दृष्टिमें पड़े ।। ८-९ ।।

सोऽविशङ्केन मनसा तदैवाभ्यपतच्छुकः ।
ततः पर्वतशृङ्गे द्वे सहसैव द्विधाकृते ।। १० ।।
अदृश्येतां महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

उन्हें देखकर वे पूर्ववत् निःशंक मनसे उनके ऊपर चढ़ गये। फिर तो वे दोनों पर्वतशिखर सहसा दो भागोंमें बँट गये और बीचसे फटे हुए-से दिखायी देने लगे। महाराज! यह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। १०½ ।।

ततः पर्वतशृङ्गाभ्यां सहसैव विनिःसृतः ।। ११ ।।
न च प्रतिजघानास्य स गतिं पर्वतोत्तमः ।

तत्पश्चात् उन पर्वतशिखरोंसे वे सहसा आगे निकल गये। वह श्रेष्ठ पर्वत उनकी गतिको रोक न सका ।।

ततो महानभूच्छब्दो दिवि सर्वदिवौकसाम् ।। १२ ।।
गन्धर्वाणामृषीणां च ये च शैलनिवासिनः ।

यह देख सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों तथा जो उस पर्वतपर रहनेवाले दूसरे लोग थे, उन सबने बड़े जोरसे हर्षनाद किया। उनकी हर्षध्वनि आकाशमें चारों ओर गूँज उठी ।। १२½ ।।

दृष्ट्वा शुकमतिक्रान्तं पर्वतं च द्विधाकृतम् ।। १३ ।।
साधु साध्विति तत्रासीन्नादः सर्वत्र भारत ।

भारत! शुकदेवजीको पर्वत लाँघकर आगे बढ़ते और उस पर्वतको दो टुकड़ोंमें विदीर्ण होते देख वहाँ सब ओर 'साधु-साधु' शब्द सुनायी पड़ने लगे ।। १३½ ।।

स पूज्यमानो देवैश्च गन्धर्वैर्ऋषिभिस्तथा ।। १४ ।।
यक्षराक्षससंघैश्च विद्याधरगणैस्तथा ।
दिव्यैः पुष्पैः समाकीर्णमन्तरिक्षं समन्ततः ।। १५ ।।

आसीत् किल महाराज शुकाभिपतने तदा ।

महाराज! देवता, गन्धर्व, ऋषि, यक्ष, राक्षस और विद्याधरोंने उनका पूजन किया। वहाँसे शुकदेवजीके ऊपर उठते समय उनके चढ़ाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे वहाँ सब ओरका सारा आकाश छा गया ।। १४-१५½ ।।

ततो मन्दाकिनीं रम्यामुपरिष्टादभिव्रजन् ।। १६ ।।

शुको ददर्श धर्मात्मा पुष्पितद्रुमकाननाम् ।

राजन्! धर्मात्मा शुकने ऊर्ध्वलोकमें जाते समय खिले हुए वृक्षों और वनोंसे सुशोभित रमणीय मन्दाकिनी (आकाशगंगा) का दर्शन किया ।। १६½ ।।

तस्यां क्रीडन्त्यभिरतास्ते चैवाप्सरसां गणाः ।। १७ ।।

शून्याकारं निराकाराः शुकं दृष्ट्वा विवाससः ।

उसमें बहुत-सी अप्सराएँ स्नान एवं जलक्रीड़ा कर रही थीं। यद्यपि वे नंगी थीं, तो भी शुकदेवजीको शून्याकार (बाह्यज्ञानसे रहित एवं आत्मनिष्ठ) देख अपने शरीरको ढकने या छिपानेके लिये उद्यत नहीं हुईं ।।

तं प्रक्रामन्तमाज्ञाय पिता स्नेहसमन्वितः ।। १८ ।।

उत्तमां गतिमास्थाय पृष्ठतोऽनुससार ह ।

उन्हें इस प्रकार सिद्धिके लिये उत्क्रमण करते जान उनके पिता वेदव्यासजी भी स्नेहवश उत्तम गतिका आश्रय ले उनके पीछे-पीछे जाने लगे ।। १८½ ।।

शुकस्तु मारुतादुर्ध्वं गतिं कृत्वान्तरिक्षगाम् ।। १९ ।।

दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत् तदा ।

उधर शुकदेव वायुसे आकाशगामिनी ऊर्ध्वगतिका आश्रय ले अपना प्रभाव दिखाकर तत्काल ब्रह्मीभूत हो गये ।।

महायोगगतिं त्वन्यां व्यासोत्थाय महातपाः ।। २० ।।

निमेषान्तरमात्रेण शुकाभिपतनं ययौ ।

स ददर्श द्विधा कृत्वा पर्वताग्रं शुकं गतम् ।। २१ ।।

महातपस्वी व्यासजी दूसरी महायोगसम्बन्धिनी गतिका अवलम्बन करके ऊपरको उठे और पलक मारते-मारते उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँसे उन पर्वत-शिखरोंको दो भागोंमें विदीर्ण करके शुकदेवजी आगे बढ़े थे। वह स्थान शुकाभिपतनके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। उन्होंने उस स्थानको देखा ।। २०-२१ ।।

शशंसुर्ऋषयस्तत्र कर्म पुत्रस्य तत् तदा ।

ततः शुकेति दीर्घेण शब्देनाक्रन्दितस्तदा ।। २२ ।।

वहाँ रहनेवाले ऋषियोंने आकर व्यासजीसे उनके पुत्रका वह अलौकिक कर्म कह सुनाया। तब व्यासजीने शुकदेवका नाम लेकर बड़े जोरसे रोदन किया ।। २२ ।।

स्वयं पित्रा स्वरेणोच्चैस्त्रींल्लोँकाननुनाद्य वै ।

शुकः सर्वगतो भूत्वा सर्वात्मा सर्वतोमुखः ।। २३ ।।
प्रत्यभाषत धर्मात्मा भो शब्देनानुनादयन् ।

जब पिताने उच्च स्वरसे तीनों लोकोंको गुँजाते हुए पुकारा, तब सर्वव्यापी, सर्वात्मा एवं सर्वतोमुख होकर धर्मात्मा शुकने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करते हुए पिताको उत्तर दिया ।। २३½ ।।

तत एकाक्षरं नादं भोरित्येव समीरयन् ।। २४ ।।
प्रत्याहरज्जगत् सर्वमुच्चैः स्थावरजङ्गमम् ।

उसीके साथ-साथ सम्पूर्ण चराचर जगत्ने उच्च स्वरसे 'भोः' इस एकाक्षर शब्दका उच्चारण करते हुए उत्तर दिया ।।

ततः प्रभृति चाद्यापि शब्दानुच्चारितान् पृथक् ।। २५ ।।
गिरिगह्वरपृष्ठेषु व्याहरन्ति शुकं प्रति ।

तभीसे आजतक पर्वतोंके शिखरपर अथवा गुफाओंके आस-पास जब-जब आवाज दी जाती है, तब-तब वहाँके चराचर निवासी प्रतिध्वनिके रूपमें उसका उत्तर देते हैं, जैसा कि उन्होंने शुकदेवजीके लिये किया था ।।

अन्तर्हितः प्रभावं तु दर्शयित्वा शुकस्तदा ।। २६ ।।
गुणान् संत्यज्य शब्दादीन् पदमभ्यगमत् परम् ।

इस प्रकार अपना प्रभाव दिखलाकर शुकदेवजी अन्तर्धान हो गये और शब्द आदि गुणोंका परित्याग करके परमपदको प्राप्त हुए ।। २६½ ।।

महिमानं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्यामिततेजसः ।। २७ ।।
निषसाद गिरिप्रस्थे पुत्रमेवानुचिन्तयन् ।

अपने अमिततेजस्वी पुत्रकी यह महिमा देखकर व्यासजी उसीका चिन्तन करते हुए उस पर्वतके शिखरपर बैठ गये ।। २७½ ।।

ततो मन्दाकिनीतीरे क्रीडन्तोऽप्सरसां गणाः ।। २८ ।।
आसाद्य तमृषिं सर्वाः सम्भ्रान्ता गतचेतसः ।
जले निलिलियिरे काश्चित् काश्चिद् गुल्मान् प्रपेदिरे ।। २९ ।।

उस समय मन्दाकिनीके तटपर क्रीड़ा करती हुई समस्त अप्सराएँ महर्षि व्यासको अपने निकट पाकर बड़ी घबराहटमें पड़ गयीं, अचेत-सी हो गयीं। कोई जलमें छिप गयीं और कोई लताओंकी झुरमुटमें ।।

वसनान्याददुः काश्चित् तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमम् ।
तां मुक्ततां तु विज्ञाय मुनिः पुत्रस्य वै तदा ।। ३० ।।
सक्ततामात्मनश्चैव प्रीतोऽभूद् व्रीडितश्च ह ।। ३१ ।।

कुछ अप्सराओंने मुनिश्रेष्ठ व्यासको देखकर अपने वस्त्र पहन लिये। उस समय अपने पुत्रकी मुक्तता जानकर मुनि बड़े प्रसन्न हुए और अपनी आसक्तिका विचार करके वे बहुत

लज्जित भी हुए ।। ३०-३१ ।।

तं देवगन्धर्ववृतो महर्षिगणपूजितः ।
पिनाकहस्तो भगवानभ्यागच्छत शंकरः ।। ३२ ।।
तमुवाच महादेवः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं कृष्णद्वैपायनं तदा ।। ३३ ।।

इसी समय देवताओं और गन्धर्वोंसे घिरे हुए तथा महर्षियोंसे पूजित पिनाकधारी भगवान् शंकर वहाँ आ पहुँचे और पुत्र-शोकसे संतप्त वेदव्यासजीको सान्त्वना देते हुए कहने लगे— ।। ३२-३३ ।।

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य चैव ह ।
वीर्येण सदृशः पुत्रः पुरा मत्तस्त्वया वृतः ।। ३४ ।।
स तथालक्षणो जातस्तपसा तव सम्भृतः ।
मम चैव प्रसादेन ब्रह्मतेजोमयः शुचिः ।। ३५ ।।

'ब्रह्मन्! तुमने पहले अग्नि, भूमि, जल, वायु और आकाशके समान शक्तिशाली पुत्र होनेका मुझसे वरदान माँगा था; अतः तुम्हें तुम्हारी तपस्याके प्रभाव तथा मेरी कृपासे पालित वैसा ही पुत्र प्राप्त हुआ। वह ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और परम पवित्र था ।। ३४-३५ ।।

स गतिं परमां प्राप्तो दुष्प्रापामजितेन्द्रियैः ।
दैवतैरपि विप्रर्षे तं त्वं किमनुशोचसि ।। ३६ ।।

'ब्रह्मर्षे! इस समय उसने ऐसी उत्तम गति प्राप्त की है, जो अजितेन्द्रिय पुरुषों तथा देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, फिर भी तुम उसके लिये क्यों शोक कर रहे हो? ।। ३६ ।।

यावत् स्थास्यन्ति गिरयो यावत् स्थास्यन्ति सागराः ।
तावत् तवाक्षया कीर्तिः सपुत्रस्य भविष्यति ।। ३७ ।।

'जबतक इस संसारमें पर्वतोंकी सत्ता रहेगी और जबतक समुद्रोंकी स्थिति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्रकी अक्षय कीर्ति इस संसारमें छायी रहेगी ।।

छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा ।
द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन् मत्प्रसादान्महामुने ।। ३८ ।।

'महामुने! तुम मेरे प्रसादसे इस जगत्‌में सदा अपने पुत्रसदृश छायाका दर्शन करते रहोगे। वह सब ओर दिखायी देगी, कभी तुम्हारी आँखोंसे ओझल न होगी' ।।

सोऽनुनीतो भगवता स्वयं रुद्रेण भारत ।
छायां पश्यन् समावृत्तः स मुनिः परया मुदा ।। ३९ ।।

भरतनन्दन! साक्षात् भगवान् शंकरके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्वत्र अपने पुत्रकी छाया देखते हुए मुनिवर व्यास बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमपर लौट आये ।। ३९ ।।

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ ।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। ४० ।।

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह शुकदेवजीके जन्म और परमपद-प्राप्तिकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारसे सुनायी है ।। ४० ।।

एतदाचष्ट मे राजन् देवर्षिनारदः पुरा ।
व्यासश्चैव महायोगी संजल्पेषु पदे पदे ।। ४१ ।।

राजन्! सबसे पहले देवर्षि नारदजीने यह वृत्तान्त मुझे बताया था। महायोगी व्यासजी भी बातचीतके प्रसंगमें पद-पदपर इस प्रसंगको दुहराया करते हैं ।। ४१ ।।

इतिहासमिमं पुण्यं मोक्षधर्मोपसंहितम् ।
धारयेद् यः शमपरः स गच्छेत् परमां गतिम् ।। ४२ ।।

जो पुरुष मोक्षधर्मसे युक्त इस परम पवित्र इतिहासको सुनकर या पढ़कर अपने हृदयमें धारण करेगा, वह शान्तिपरायण हो परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होगा ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पतनसमाप्तिर्नाम त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिके वर्णनकी समाप्ति नामक तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३३ ।।

---

* सत्त्वगुण भी सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे बाँधनेवाला होता है। 'मैं सुखी हूँ, अज्ञानी हूँ,' ऐसा जो अभिमान हो जाता है, वह ज्ञानीको गुणातीत अवस्थासे वंचित रख देता है। इसलिये यहाँ सत्त्वगुणको भी त्याग देनेकी बात कही गयी है।